अनेकान्त

चैत्र, संवत् २००५ :: अप्रैल, सन् १९४८

वर्ष ९ ★ किरण ४

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

★

सम्पादक-मंडल

जुगलकिशोर मुख्तार
प्रधान सम्पादक

मुनि कान्तिसागर

दरबारीलाल न्यायाचार्य

अयोध्याप्रसाद गोयलीय
डालमियानगर (विहार)

★

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
जैन तपस्वी	१२५	त्यागका वास्तविक रूप	१५०
स्वरूप-भावना	१२६	जय स्याद्वाद	१५४
रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय	१२७	अपने ही लोगों द्वारा बलि किये गये महापुरुष	१५७
अमूल्य तत्त्व-विचार	१४०	महामुनि सुकुमाल	१५८
इज्जत बड़ी या रुपया	१४१	सेठीजीका अन्तिम पत्र	१६१
अनेकान्त	१४३	सम्पादकीय	१६४
पराक्रमी जैन	१४५	साहित्य-परिचय और समालोचन	१६५
शङ्का-समाधान	१४८		

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीर-सेवामन्दिरको निम्न सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

३१) लाला उदयराम जिनेश्वरप्रसाद जी जैन बजाज सहारनपुर (दर्शन प्रतिमा ग्रहण करनेके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे लायब्रेरी सहायतार्थ) मार्फत पं० परमानन्दजी जैन शास्त्री।

५) बाबू माईदयालजी जैन बी० ए० देहली और लाला श्रीचन्दजी जैन देहरादून (पुत्र-पुत्रीके विवाहकी खुशीमें)।

---

३६)

अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

अनेकान्तको सहायता

गत दूसरी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको निम्न सहायता और प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

२०) लाला सुमेरीलाल गुलाबरायजी, बाराबङ्की (इन्द्रकुमार जैनकी दादीकी मृत्यु-समय निकाले गये १०१) के दानमेंसे)।

५) बाबू दीपचन्दजी, कानपुर (चि० पुत्रके विवाहोपलक्षमें निकाले गये दानमेंसे)।

५) बाबू चिरञ्जीलालजी जैन, वर्धा (चि० पुत्रके विवाहोपलक्षमें निकाले हुए दानमेंसे)।

---

३०)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

सूचना

अनेकान्त कार्यालयको कुछ सहायता प्राप्त हुई है जिसके आधारपर हम ३३ विद्यार्थियों, लायब्रेरी अथवा वाचनालयोंको रियायती मूल्य ३) तीन रुपया में अनेकान्त एक वर्ष तक दे सकते हैं। जिन्हें आवश्यकता हो वे ३) रुपया शीघ्र मनिआर्डर से भेज देवें, रुपया आनेपर अनेकान्त चालू कर दिया जावेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

सूचना

अनेकान्त कार्यालयके लिये एक सुयोग्य विद्वान की आवश्यकता है जो पत्र व्यवहार आदि कार्योंके साथ प्रूफ रीडिंग करनेमें भी दक्ष हो। वेतन योग्यतानुसार दिया जावेगा। जो विद्वान आना चाहें वे निम्न पतेपर पत्र व्यवहार करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा
(सहारनपुर)

सूचना

अनेकान्तके पिछले वर्षोंकी कुछ फाइलें, वर्ष ४-५-६-७-८की अवशिष्ट बची हैं। जो महानुभाव खरीदना चाहेंगे, उन्हें वीरजयन्तीसे वीरशासन जयन्ती तक निर्दिष्ट मूलमें ही दी जावेंगी। अतः ऑर्डर भेजनेकी शीघ्रता करें, अन्यथा ये फाइलें भी पहले दूसरे और तीसरे वर्षकी तरह अप्राप्य हो जायेंगी।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

भूल सुधार

'पराक्रमी जैन' शीर्षक लेखके अन्तमें लेखकका नाम और तारीख छपनेसे रह गई है। कृपया प्रेमी पाठक वहाँ अयोध्याप्रसाद 'गोयलीय' और तारीख १४ फरवरी सन् १९४० बना लेवें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

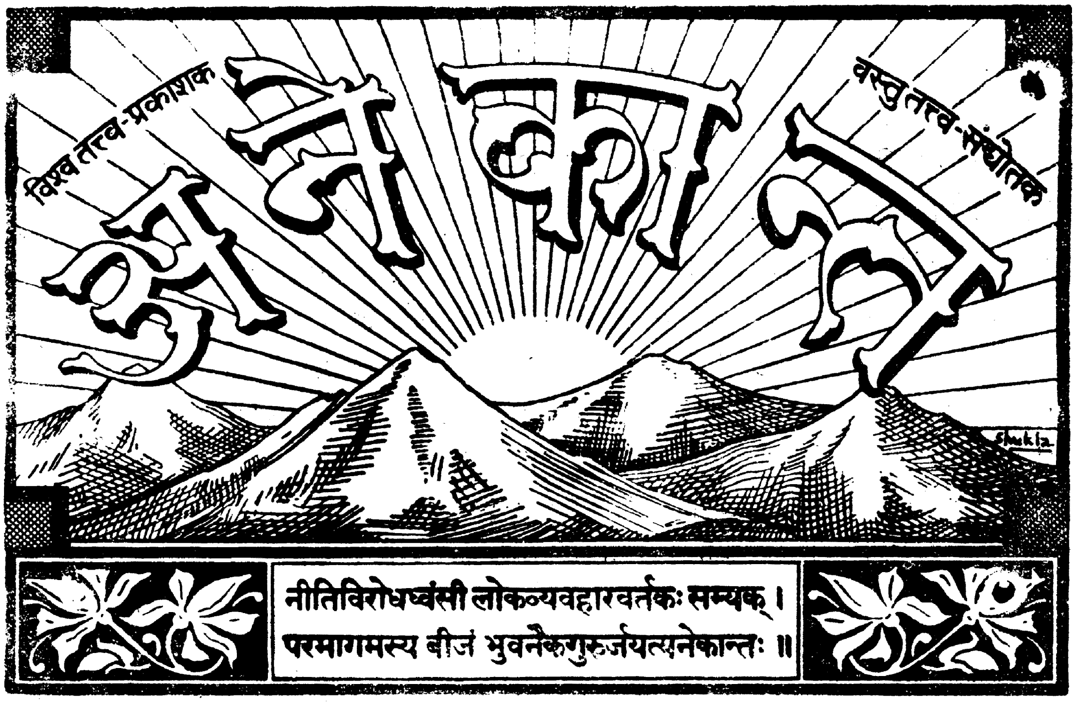

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, ज़िला सहारनपुर	अप्रैल
किरण ४	चैत्र शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७४, विक्रम-संवत् २००५	१९४८

जैन तपस्वी

शीतरितु-जोरैं अंग सब ही सकोरैं तहाँ—
तनको न मोरैं नदीधोरैं धीर जे खरे ।
जेठकी झकोरैं जहाँ अंडा चील छोरैं पशु—
पंछी छाँह लोरैं गिरि कोरैं तप वे धरे ॥
घोर घन घोरैं घटा चहूँ ओर डोरैं ज्यों-ज्यों—
चलत हिलोरैं त्यों-त्यों फोरैं बल ये अरे ।
देह-नेह तोरैं परमारथसौं प्रीति जोरैं
ऐसे गुरु ओरैं हम हाथ अंजली करे ॥

—कवि भूधरदास

ग्रीषमकी ऋतुमाहिं जल थल सूख जाहिं
परत प्रचंड धूप आगिसी बरत है ।
दावाकीसी ज्वाल-माल वहत बयार अति
लागत लपट कोऊ धीर न धरत है ॥
धरती तपत मानों तवासी तपाय राखी
बडवा-अनल-सम शैल जो जरत है ।
ताके शृंग शिलापर जोर जुग पाँव धर ,
करत तपस्या मुनि करम हरत है ॥

—कवि भगवतीदास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप-भावना

[कैराना जिला मुजफ्फरनगरके बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुये, आजसे कोई १५ वर्ष पहले जो षट्पत्रात्मक ग्रन्थसंग्रह प्राप्त हुआ था और जिसके षट्दर्शनसूत्रादि आठ ग्रन्थोंमेंसे 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' नामका एक ग्रन्थ गत वर्षकी १२वीं किरणमें प्रकाशित किया जाचुका है उसीपरसे यह 'स्वरूप-भावना' नामका ग्रन्थ भी नोट किया गया था, जो आज प्रकाशित किया जाता है। यह अध्यात्म-विषयका एक बड़ा ही सुन्दर एवं चित्ताकर्षक लघु ग्रन्थ अथवा प्रकरण है। इसमें संक्षेपतः आत्माके शुद्ध स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए 'उसी पावन स्वरूपकी मैं सदा भावना करता हूँ' ऐसा बार-बार कहा गया है। इसके कर्ताका नाम मालूम नहीं होसका। कुछ दिन हुए देहली पंचायतीमन्दिरके शास्त्रभण्डारमें भी इसकी एक प्रतिका पता चला है, जो प्राचीन गुटकेमें है परन्तु उसमें भी कर्ताका नाम नहीं दिया। किसी अन्य विद्वानको यदि कर्ताके नामका पता चले तो वे सूचित करनेकी कृपा करें। —सम्पादक]

(भुजंगप्रयात)

मुनि-स्तुत्य-चित्तत्व-नीरेज-भृङ्गं, परित्यक्त-रागादि-दोषाऽनुसङ्गम् ।
जगद्वस्तु-विद्योतकं ज्ञानरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥१॥

स्वशुद्धात्म-पीयूष-वारांशिपूरं, जिनेन्द्रोक्त-जीवादि-तत्त्वार्थ-सारम् ।
सुवर्णत्ववन्नित्य-चैतन्य-रूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥२॥

गलत्कर्म-बन्धं त्रुटन्मोह-पाशं, स्वदेह-त्रिलोक-प्रमाण-प्रदेशम् ।
तरुस्थाऽग्निवद्देहतो भिन्नरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥३॥

शरीरादि-नोकर्म-कर्म-प्रमुक्तं, निरुद्धास्रवं सप्तभङ्गि-प्रयुक्तम् ।
स्वशक्ति-स्थिताऽनन्त-बोध-स्वरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥४॥

स्वरुच्यग्नि-निर्दग्ध-दुःकर्म-कक्षं, स्वसंवेदन-ज्ञान-गम्यं निरक्षम् ।
लसद्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥५॥

परिप्राप्त-संसार-वारांशि-पारं, निजानन्द-सत्पान-भृच्चित्करीरम् ।
चिदानन्द-बीजं परंब्रह्मरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥६॥

विनष्टाऽन्यभाव-प्रभूत-प्रमादं, निरस्ताङ्ग-सञ्ज्ञान-लिङ्गादिभेदम् ।
निरातङ्क-सानन्द-चैतन्य-रूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥७॥

स्वचिद्भाव-वाक्-सम्भवाऽनन्त-शक्तिं, निराशं निरीशं परिप्राप्त-मुक्तिम् ।
त्रिलोकेश्वरं निश्चलं नित्यरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥८॥

स्वरूपभावना समाप्ता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय

[सम्पादकीय]

(गत किरणसे आगे)

(३) रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये प्रोफेसर हीरालालजीकी जो तीसरी दलील (युक्ति) है उसका सार यह है कि 'वादिराज-सूरिके पार्श्वनाथचरितमें आप्तमीमांसाको तो 'देवागम' नामसे उल्लेख करते हुए 'स्वामि-कृत' कहा गया है और रत्नकरण्डको स्वामिकृत न कहकर 'योगीन्द्र-कृत' बतलाया है। 'स्वामी'का अभिप्राय स्वामी समन्तभद्रसे और 'योगीन्द्र'का अभिप्राय उस नामके किसी आचार्यसे अथवा आप्तमीमांसाकारसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रसे है। दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक ही समन्तभद्र नहीं हो सकते अथवा यों कहिये कि वादिराज-सम्मत नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों ग्रन्थोंके उल्लेख-सम्बन्धी दोनों पद्योंके मध्यमें 'अचिन्त्य-महिमादेवः' नामका एक पद्य पड़ा हुआ है जिसके 'देव' शब्दका अभिप्राय देवनन्दी पूज्यपादसे है और जो उनके शब्दशास्त्र(जैनेन्द्र)की सूचनाको साथमें लिये हुए हैं।' जिन पद्योंपरसे इस युक्तिवाद अथवा रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एककर्तृत्वपर आपत्तिका जन्म हुआ है वे इस प्रकार हैं:—

"स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते ॥१७॥
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्य सुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥१९॥

इन पद्योंमेंसे जिन प्रथम और तृतीय पद्योंमें **ग्रन्थोंका नामोल्लेख है** उनका विषय स्पष्ट है और **जिसमें किसी ग्रन्थका** नामोल्लेख नहीं है उस द्वितीय **पद्यका विषय अस्पष्ट है, इस बातको** प्रोफेसर साहबने **स्वयं स्वीकार किया है। और इसीलिये** द्वितीय पद्यके *आशय तथा अर्थके विषयमें विवाद है*—एक उसे स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित करते हैं तो दूसरे देवनन्दी पूज्यपादके साथ। यह पद्य यदि क्रममें तीसरा हो और तीसरा दूसरेके स्थानपर हो, और ऐसा होना लेखकोंकी कृपासे कुछ भी असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है, तो फिर विवादके लिये कोई स्थान नहीं रहता; तब देवागम (आप्तमीमांसा) और रत्नकरण्ड दोनों निर्विवादरूपसे प्रचलित मान्यताके अनुरूप स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित हो जाते हैं और शेष पद्यका सम्बन्ध देवनन्दी पूज्यपाद और उनके शब्दशास्त्रसे लगाया जा सकता है। चूंकि उक्त पार्श्वनाथचरित-सम्बन्धी प्राचीन प्रतियोंकी खोज अभी तक नहीं हो पाई है, जिससे पद्योंकी क्रमभिन्नताका पता चलता और जिसकी बहुत बड़ी सम्भावना जान पड़ती है, अतः उपलब्ध क्रमको लेकर ही इन पद्योंके प्रतिपाद्य विषय अथवा फलितार्थपर विचार किया जाता है:—

पद्योंके उपलब्ध क्रमपरसे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि तीनों पद्य स्वामी समन्तभद्रकी स्तुतिको लिये हुए हैं और उनमें उनकी तीन कृतियोंका उल्लेख है; और दूसरी यह कि तीनों पद्योंमें क्रमशः तीन आचार्यों और उनकी तीन कृतियोंका उल्लेख है। इन दोनोंमेंसे कोई एक बात ही ग्रन्थकारके द्वारा अभिमत और प्रतिपादित हो सकती है—दोनों नहीं। वह एक बात कौनसी हो सकती है, यही यहाँ-पर विचारणीय है। तीसरे पद्यमें उल्लिखित 'रत्न-करण्डक' यदि वह रत्नकरण्ड या रत्नकरण्ड-श्रावकाचार नहीं है जो स्वामी समन्तभद्रकी कृतिरूप से प्रसिद्ध और प्रचलित है, बल्कि 'योगीन्द्र' नामके आचार्य-द्वारा रचा हुआ उसी नामका कोई दूसरा ही ग्रन्थ है, तब तो यह कहा जा सकता है कि तीनों पद्योंमें तीन आचार्यों और उनकी तीन कृतियोंका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख है—भले ही वह दूसरा रत्नकरण्ड कहींपर उपलब्ध न हो अथवा उसके अस्तित्वको प्रमाणित न किया जा सके। और तब इन पद्योंको लेकर जो विवाद खड़ा किया गया है वही स्थिर नहीं रहता—समाप्त हो जाता है अथवा यों कहिये कि प्रोफेसर साहबकी तीसरी आपत्ति निराधार होकर बेकार हो जाती है। परन्तु प्रो० साहबको दूसरा रत्नकरण्ड इष्ट नहीं है, तभी उन्होंने प्रचलित रत्नकरण्डके ही छठे पद्य 'क्षुत्पिपासा'को आप्तमीमांसाके विरोधमें उपस्थित किया था, जिसका ऊपर परिहार किया जा चुका है। और इसलिये तीसरे पद्यमें उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि प्रचलित रत्नकरण्डश्रावकाचार ही है तो तीनों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके साथ ही सम्बन्धित कहना होगा, जबतक कि कोई स्पष्टबाधा इसके विरोधमें उपस्थित न की जाय। इसके सिवाय, दूसरी कोई गति नहीं; क्योंकि प्रचलित रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकृत माननेमें कोई बाधा नहीं है, जो बाधा उपस्थित की गई थी उसका ऊपर दो आपत्तियोंका विचार करते हुए भले प्रकार निरसन किया जा चुका है और यह तीसरी आपत्ति अपने स्वरूपमें ही स्थिर न होकर असिद्ध तथा संदिग्ध बनी हुई है। और इसलिये प्रो० साहबके अभिमतको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। जब आदि-अन्तके दोनों पद्य स्वामी समन्तभद्रसे सम्बन्धित हों तब मध्यके पद्यको किसी दूसरेके साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणके तौरपर कल्पना कीजिये कि रत्नकरण्डके उल्लेख वाले तीसरे पद्यके स्थानपर स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत स्वयंभूस्तोत्रके उल्लेखको लिये हुए निम्न प्रकारके आशयका कोई पद्य है—

'स्वयम्भूस्तुतिकर्तारं भस्मव्याधि-विनाशनम्।
विराग-द्वेष-वादादिमनेकान्तमतं नुमः ॥'

ऐसे पद्यकी मौजूदगीमें क्या द्वितीय पद्यमें उल्लिखित 'देव' शब्दको देवनन्दी पूज्यपादका वाचक कहा जा सकता है? यदि नहीं कहा जा सकता तो रत्नकरण्डके उल्लेखवाले पद्यकी मौजूदगीमें भी उसे देवनन्दी पूज्यपादका वाचक नहीं कहा जा सकता, उस वक्त तक जब तक कि यह सिद्ध न कर दिया जाय कि रत्नकरण्ड स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है। क्योंकि असिद्ध साधनोंके द्वारा कोई भी बात सिद्ध नहीं की जा सकती।

इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, आजसे कोई २३ वर्ष पहले रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनाके साथमें दिये हुए स्वामी समन्तभद्रके विस्तृत परिचय (इतिहास)में जब मैंने 'स्वामिनश्चरितं तस्य' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इन दो पद्योंको पार्श्वनाथचरितसे एक साथ उद्धृत किया था तब मैंने फुटनोट (पादटिप्पणी)में यह बतला दिया था कि इनके मध्यमें 'अचिन्त्यमहिमा देवः' नामका एक तीसरा पद्य मुद्रित प्रतिमें और पाया जाता है जो मेरी रायमें इन दोनों पद्योंके बाद होना चाहिये—तभी वह देवनन्दी आचार्यका वाचक हो सकता है। साथ ही, यह भी प्रकट कर दिया था कि "यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रन्थकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराजने समन्तभद्रको अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादन किया है। साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रन्थका उल्लेख किया है"। अपनी इस दृष्टि और रायके अनुरूप ही मैं 'अचिन्त्यमहिमा देवः' पद्यको प्रधानतः 'देवागम' और 'रत्नकरण्ड'के उल्लेख वाले पद्योंके उत्तरवर्ती तीसरा पद्य मानता आरहा हूँ और तदनुसार ही उसके 'देव' पदका देवनन्दी अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं। अतः इन तीनों पद्योंके क्रमविषयमें मेरी दृष्टि और मान्यताको छोड़कर किसीको भी मेरे उस अर्थका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए जो समाधितन्त्रकी प्रस्तावना तथा सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठमें दिया हुआ है[१]। क्योंकि मुद्रितप्रतिका पद्य-क्रम

१ प्रो० साहबने अपने मतकी पुष्टिमें उसे पेश करके सचमुच ही उसका दुरुपयोग किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही ठीक होनेपर मैं उस पद्यके 'देव' पदको समन्तभद्रका ही वाचक मानता हूं और इस तरह तीनों पद्योंको समंतभद्रके स्तुति-विषयक समझता हूँ। अस्तु।

अब देखना यह है कि क्या उक्त तीनों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित करने अथवा रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति बतलानेमें कोई दूसरी बाधा आती है? जहाँ तक मैंने इस विषयपर गंभीरताके साथ विचार किया है मुझे उसमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। तीनों पद्योंमें क्रमशः तीन विशेषणों स्वामी, देव और योगीन्द्रके द्वारा समन्तभद्रका स्मरण किया गया है। उक्त क्रमसे रक्खे हुए तीनों पद्योंका अर्थ निम्न प्रकार है:—

'उन स्वामी *(समन्तभद्र)का चरित्र* किसके लिये विस्मयकारक (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने 'देवागम' (आप्तमीमांसा) नामके अपने प्रवचन-द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। वे अचिन्त्यमहिमा-युक्त देव (समन्तभद्र) अपना हित चाहने वालोंके द्वारा सदा वन्दनीय हैं, जिनके द्वारा (सर्वज्ञ ही नहीं किन्तु) शब्द भी[1] भले प्रकार सिद्ध होते हैं। वे ही योगीन्द्र (समन्तभद्र) सच्चे अर्थोंमें त्यागी (त्यागभावसे युक्त अथवा दाता) हुए हैं जिन्होंने सुखार्थी भव्यसमूहके लिये अक्षयसुखका कारणभूत धर्मरत्नोंका पिटारा—'रत्नकरण्ड' नामका धर्मशास्त्र—दान किया है।'

इस अर्थपरसे स्पष्ट है कि दूसरे तथा तीसरे पद्यमें ऐसी कोई बात नहीं जो स्वामी समन्तभद्रके साथ सङ्गत न बैठती हो। समन्तभद्रके लिये 'देव' विशेषणका प्रयोग कोई अनोखी अथवा उनके पदसे कोई अधिक चीज नहीं है। देवागमकी वसुनन्दि-वृत्ति, पं० आशाधरकी सागारधर्मामृत-टीका, आचार्य जयसेनकी समयसार-टीका, नरेन्द्रसेन आचार्यके सिद्धान्तसार-संग्रह और आप्तमीमांसामूलकी एक वि० संवत् १७५२की प्रतिकी अन्तिम पुष्पिकामें समन्तदभद्रके साथ 'देव' पदका खुला प्रयोग पाया जाता है, जिन सबके अवतरण पं० दरबारीलालजी कोठियाके लेखमें उद्धृत होचुके हैं[1]। इसके सिवाय, वादिराजके पार्श्वनाथचरितसे ४७ वर्ष पूर्व शक सं० ९०० में लिखे गये चामुण्डरायके त्रिषष्ठिशलाकामहापुराणमें-भी 'देव' उपपदके साथ समन्तभद्रका स्मरण किया गया है और उन्हें तत्त्वार्थभाष्यादिका कर्ता लिखा है[2]। ऐसी हालतमें प्रो० साहबका समन्तभद्रके साथ 'देव' पदकी असङ्गतिकी कल्पना करना ठीक नहीं है—वे साहित्यिकोंमें 'देव' विशेषणके साथ भी प्रसिद्धिको प्राप्त रहे हैं।

और अब प्रो० साहबका अपने अन्तिम लेखमें यह लिखना तो कुछ भी अर्थ नहीं रखता कि "जो उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं उन सबमें 'देव' पद *समन्तभद्रके साथ-साथ* पाया जाता है। ऐसा कोई एक भी उल्लेख नहीं जहाँ केवल 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया हो।" यह वास्तवमें कोई उत्तर नहीं, इसे केवल उत्तरके लिये ही उत्तर कहा जा सकता है; क्योंकि जब कोई विशेषण किसीके साथ जुड़ा होता है तभी तो वह किसी प्रसङ्गपर संकेतादिके रूपमें अलगसे भी कहा जा सकता है, जो विशेषण कभी साथमें जुड़ा ही न हो वह न तो अलगसे कहा जा सकता है और न उसका वाचक ही हो सकता है। प्रो० साहब ऐसा कोई भी उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे जिसमें समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद जुड़नेसे पहले उन्हें केवल 'स्वामी' पदके द्वारा उल्लेखित किया गया हो। अतः मूल बात समन्तभद्रके साथ 'देव' विशेषणका पाया जाना है, जिसके उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं और जिनके आधारपर द्वितीय पद्यमें प्रयुक्त हुए 'देव' विशेषण अथवा उपपदको समन्तभद्रके साथ सङ्गत कहा जा सकता है। प्रो० साहब वादिराजके इसी उल्लेखको वैसा एक उल्लेख समझ सकते हैं जिसमें 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया है; क्योंकि वादिराजके सामने अनेक प्राचीन उल्लेखोंके

१ मूलमें प्रयुक्त हुए 'च' शब्दका अर्थ।

१ अनेकान्त वर्ष ८ कि० १०-११, पृ० ४१०-११

२ अनेकान्त वर्ष ६ कि० १ पृ० ३३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूपमें समन्तभद्रको भी 'देव' पदके द्वारा उल्लेखित करनेके कारण मौजूद थे। इसके सिवाय, प्रो० साहब ने श्लेषार्थको लिये हुए जो एक पद्य 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या' इत्यादि उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है उसका अर्थ जब स्वामी समन्तभद्र-परक किया जाता तब 'देव' पद स्वामी समन्तभद्रका, अकलङ्क-परक अर्थ करनेसे अकलङ्कका और विद्यानन्द-परक अर्थ करनेसे विद्यानन्दका ही वाचक होता है। इससे समन्तभद्र नाम साथमें न रहते हुए भी समन्तभद्रके लिये 'देव' पदका अलगसे प्रयोग अघटित नहीं है, यह प्रो० साहब-द्वारा प्रस्तुत किये गये पद्यसे भी जाना जाता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वादिराज 'देव' शब्दको एकान्ततः 'देवनन्दी'का वाचक समझते थे और वैसा समझनेके कारण ही उन्होंने उक्त पद्यमें देवनन्दीके लिये उसका प्रयोग किया है; क्योंकि वादिराजने अपने न्याय-विनिश्चय-विवरणमें अकलङ्कके लिये 'देव' पदका बहुत प्रयोग किया है[1], इतना ही नहीं बल्कि पार्श्वनाथचरितमें भी वे 'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः' इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'देव' पदके द्वारा अकलङ्कका उल्लेख कर रहे हैं। और जब अकलङ्कके लिये वे 'देव' पदका उल्लेख कर रहे हैं तब अकलङ्कसे भी बड़े और उनके भी पूज्यगुरु समन्तभद्रके लिये 'देव' पदका प्रयोग करना कुछ भी अस्वाभाविक अथवा अनहोनी बात नहीं है। इसके सिवाय, उन्होंने न्यायविनिश्चय-विवरणके अन्तिम भागमें पूज्यपादका देवनन्दी नामसे उल्लेख न करके पूज्यपाद नामसे ही उल्लेख किया है[1], जिससे मालूम होता कि यही नाम उनको अधिक इष्ट था।

ऐसी स्थितिमें यदि वादिराजका अपने द्वितीय पद्यसे देवनन्दि-विषयक अभिप्राय होता तो वे या तो पूरा देवनन्दी नाम देते या उनके 'जैनेन्द्र' व्याकरणका साथमें स्पष्ट नामोल्लेख करते अथवा इस पद्यको रत्नकरण्डके उल्लेख वाले पद्यके बादमें रखते, जिससे समन्तभद्रका स्मरण-विषयक प्रकरण समाप्त होकर दूसरे प्रकरणका प्रारम्भ समझा जाता। जब ऐसा कुछ भी नहीं है तब यही कहना ठीक होगा कि इस पद्यमें 'देव' विशेषणके द्वारा समन्तभद्रका ही उल्लेख किया गया है। उनका अचिन्त्यमहिमासे युक्त होना और उनके द्वारा शब्दोंका सिद्ध होना भी कोई असङ्गत नहीं है। वे पूज्यपादसे भी अधिक महान् थे, अकलङ्क और विद्यानन्दादिक बड़े-बड़े आचार्योंने उनकी महानताका खुला गान किया है, उन्हें सर्व-पदार्थतत्त्वविषयक स्याद्वाद-तीर्थको कलिकालमें भी प्रभावित करने वाला, वीरशासनकी हजारगुणी वृद्धि करने वाला, और 'जैनशासनका प्रणेता' तक लिखा है। उनके असाधारण गुणोंके कीर्तनों और महिमाओंके वर्णनोंसे जैनसाहित्य भरा हुआ है, जिसका कुछ परिचय पाठक 'सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ'में दिये हुए समन्तभद्रके स्मरणोंपरसे सहज ही में प्राप्त कर सकते हैं। समन्तभद्रके एक परिचय-पद्यसे मालूम होता है कि वे 'सिद्धसारस्वत'[2] थे—सरस्वती उन्हें सिद्ध थी; वादीभसिंह-जैसे आचार्य उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि' बतलाते हैं और एक दूसरे ग्रन्थकार समन्तभद्र-द्वारा रचे हुए ग्रन्थ-समूहरूपी निर्मलकमल-सरोवरमें, जो भावरूप हंसोंसे परिपूर्ण है, सरस्वतीको क्रीडा करती हुई उल्लेखित करते हैं[3]। इससे समन्तभद्रके द्वारा शब्दों-

१ जैसा कि नीचे के कुछ उदाहरणोंसे प्रकट है:—
"देवस्तार्किकचक्रचूडामणिर्भूयात्स वः श्रेयसे"। पृ० ३
"भूयो भेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्"।
"तथा च देवस्यान्यत्र वचनं—"व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वत एव नः"। प्रस्ताव १
"देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः"। प्रस्ताव २

१ "विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दयापालं सन्मतिसागरं ····· वन्दे जिनेन्द्रं मुदा"।
२ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४ पृ० २६
३ सत्साधुस्मरणमंगलपाठ, पृ० ३४, ४६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का सिद्ध होना कोई अनोखी बात नहीं कही जा सकती। उनका 'जिनशतक' उनके अपूर्व व्याकरण-पाण्डित्य और शब्दोंके एकाधिपत्यको सूचित करता है। पूज्यपादने तो अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' यह सूत्र रखकर समन्तभद्र-द्वारा होने वाली शब्दसिद्धिको स्पष्ट सूचित भी किया है, जिस परसे उनके व्याकरण-शास्त्रकी भी सूचना मिलती है। और श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने अपने गद्यकथाकोशमें उन्हें तर्कशास्त्रकी तरह व्याकरण-शास्त्रका भी व्याख्याता (निर्माता)[१] लिखा है[२]। इतनेपर भी प्रो० साहबका अपने पिछले लेखमें यह लिखना कि "उनका बनाया हुआ न तो कोई शब्दशास्त्र उपलब्ध है और न उसके कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख पाये जाते हैं" व्यर्थ की खींचतानके सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि आज कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तो उसका यह आशय तो नहीं लिया जा सकता कि वह कभी था ही नहीं। वादिराजके ही द्वारा पार्श्वनाथ-चरितमें उल्लिखित 'सन्मतिसूत्र'की वह विवृति और विशेषवादीकी वह कृति आज कहाँ मिल रही है? यदि उनके न मिलने मात्रसे वादिराजके उल्लेख-विषयमें अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती तो फिर समन्तभद्रके शब्दशास्त्रके उपलब्ध न होने मात्रसे ही वैसी कल्पना क्यों की जाती है? उसमें कुछ भी औचित्य मालूम नहीं होता। अतः वादिराजके उक्त द्वितीय पद्य नं० १८का यथावस्थित क्रमकी दृष्टिसे समन्तभद्र-विषयक अर्थ लेनेमें किसी भी बाधाके लिये कोई स्थान नहीं है।

रही तीसरे पद्यकी बात, उसमें 'योगीन्द्रः' पदको लेकर जो वाद-विवाद अथवा झमेला खड़ा किया गया है उसमें कुछ भी सार नहीं है। कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं हो सकता जो समन्तभद्रको योगी अथवा योगीन्द्र माननेके लिये तय्यार न हो, खासकर उस हालतमें जब कि वे धर्माचार्य थे—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूप पञ्च आचारोंका स्वय आचरण करनेवाले और दूसरोंको आचरण कराने वाले दीक्षागुरुके रूपमें थे–, 'पदर्द्धिक' थे तपके बलपर चारणऋद्धिको प्राप्त थे—और उन्होंने अपने मंत्रमय वचनबलसे शिवपिण्डीमें चन्द्रप्रभकी प्रतिमाको बुला लिया था ('स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः')। योग-साधना जैन मुनिका पहला कार्य होता है और इस लिये जैन मुनिको 'योगी' कहना एक सामान्य-सी बात है, फिर धर्माचार्य अथवा दीक्षागुरु मुनीन्द्रका तो योगी अथवा योगीन्द्र होना और भी अवश्यं-भावी तथा अनिवार्य हो जाता है। इसीसे जिस वीरशासनके स्वामी समन्तभद्र अनन्य उपासक थे उसका स्वरूप बतलाते हुए, युक्त्यनुशासन (का०६)में उन्होंने दया, दम और त्यागके साथ समाधि (योग-साधना)को भी उसका प्रधान अङ्ग बतलाया है। तब यह कैसे हो सकता है कि वीरशासनके अनन्य-उपासक भी योग-साधना न करते हों और इसलिये योगी न कहे जाते हों?

सबसे पहले सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने इस योगीन्द्र-विषयक चर्चाको 'क्या रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं?' इस शीर्षकके अपने लेखमें उठाया था और यहाँ तक लिख दिया था कि "योगीन्द्र-जैसा विशेषण तो उन्हें (समन्तभद्रको) कहीं भी नहीं दिया गया[१]।" इसके उत्तरमें जब मैंने 'स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे' इस शीर्षकका लेख[२] लिखा और उसमें अनेक प्रमाणोंके आधारपर यह स्पष्ट किया गया कि समन्तभद्र योगीन्द्र थे तथा 'योगी' और 'योगीन्द्र' विशेषणोंका उनके नामके साथ स्पष्ट उल्लेख भी बतलाया गया तब प्रेमीजी तो उस विषयमें मौन हो रहे, परन्तु प्रो० साहबने इस चर्चाको यह लिखकर लम्बा किया कि—

१ अनेकान्त वर्ष ८ किरण १०-११ पृ० ४१६

२ 'जैनग्रन्थावली'में रॉयल एशयाटिक सोसाइटीकी रिपोर्टके आधारपर समन्तभद्रके एक प्राकृत व्याकरणका नामोल्लेख है और उसे १२०० श्लोकपरिमाण सूचित किया है।

१ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४, पृ० २६, ३०

२ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६, पृ० ४२-४८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"मुख्तार साहब तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधारपर 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्र-कृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोष स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोपमें समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजीने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि "दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है"। उसीके आधारपर आज उक्त दोनों विद्वानोंको "यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्य-कथाकोषमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है।"

इसपर प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोषको मँगाकर देखा गया और उसपरसे समन्तभद्रको 'योगी' तथा 'योगीन्द्र' बतलाने वाले जब डेढ दर्जनके करीब प्रमाण न्यायाचार्यजीने अपने अन्तिम लेख[1]में उद्धृत किये तब उसके उत्तरमें प्रो० साहब अब अपने पिछले लेखमें यह कहने बैठे हैं, जिसे वे नेमिदत्त-कथाकोषके अनुकूल पहले भी कह सकते थे, कि "कथानकमें समन्तभद्रको केवल उनके कपट-वेषमें ही योगी या योगीन्द्र कहा है, उनके जैनवेषमें कहीं भी उक्त शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता"। यह उत्तर भी वास्तवमें कोई उत्तर नहीं है। इसे भी केवल उत्तरके लिये ही उत्तर कहा जा सकता है। क्योंकि समन्तभद्रके योग-चमत्कारको देखकर जब शिवकोटिराजा, उनके भाई शिवायन और प्रजाके बहुतसे जन जैनधर्ममें दीक्षित होगये तब योगरूपमें समन्तभद्रकी ख्याति तो और भी बढ़ गई होगी और वे आम तौरपर योगिराज कहलाने लगे होंगे, इसे हर कोई समझ सकता है; क्योंकि वह योगचमत्कार समन्तभद्रके साथ सम्बद्ध था न कि उनके पाण्डुराङ्ग-तपस्वीवाले वेषके साथ। ऐसा भी नहीं कि पाण्डु-राङ्गतपस्वीके वेषवाले ही 'योगी' कहे जाते हों जैनवेषवाले मुनियोंको योगी न कहा जाता हो। यदि ऐसा होता तो रत्नकरण्डके कर्ताको भी 'योगीन्द्र' विशेषणसे उल्लेखित न किया जाता। वास्तवमें 'योगी' एक सामान्य शब्द है जो ऋषि, मुनि, यति, तपस्वी आदिकका वाचक है; जैसा कि धनञ्जय-नाममालाके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापसः संयतो व्रती।
तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः ॥३॥

जैनसाहित्यमें योगीकी अपेक्षा यति-मुनि-तपस्वी जैसे शब्दोंका प्रयोग अधिक पाया जाता है, जो उसके पर्याय नाम हैं। रत्नकरण्डमें भी यति, मुनि और तपस्वी शब्द योगीके लिये व्यवहृत हुए हैं। तपस्वीको आप्त तथा आगमकी तरह सम्यग्दर्शनका विषयभूत पदार्थ बतलाते हुए उसका जो स्वरूप एक पद्य[1]में दिया है वह खासतौरसे ध्यान देने योग्य है। उसमें लिखा है कि—'जो इन्द्रिय-विषयों तथा इच्छाओंके वशीभूत नहीं हैं, आरम्भों तथा परिग्रहों-से रहित हैं और ज्ञान, ध्यान एवं तपश्चरणोंमें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।' इस लक्षणसे भिन्न योगीके और कोई सींङ्ग नहीं होते। एक स्थानपर सामायिकमें स्थित गृहस्थको 'चेलोपसृष्ट-मुनि'की तरह यतिभावको प्राप्त हुआ लिखा है[2]।' चेलोपसृष्टमुनिका अभिप्राय उस नग्न दिगम्बर जैन योगीसे है जो मौन-पूर्वक योग-साधना करता हुआ ध्यानमग्न हो और उस समय किसीने उसको वस्त्र ओढा दिया हो, जिसे वह अपने लिये उपसग समझता है। सामायिकमें स्थित वस्त्रसहित गृहस्थको उस मुनिकी उपमा देते हुए उसे जो यतिभाव-योगीके भावको प्राप्त हुआ लिखा है और अगले पद्यमें उसे "अचलयोग" भी बतलाया है उससे स्पष्ट जाना

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११ पृ० ४२०-२१

१ विषयाऽऽशा-वशाऽतीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

२ सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है कि रत्नकरण्डमें भी योगीके लिये 'यति' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवने अष्टशती (देवागम-भाष्य)के मङ्गल-पद्यमें आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रको 'यति' लिखा है[1] जो सन्मार्गमें यत्नशील अथवा मन-वचन-कायके नियन्त्रणरूप योगकी साधनामें तत्पर योगीका वाचक है, और श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्रीमें उन्हें 'यतिभृत्' और 'यतीश' तक लिखा है[2], जो दोनों ही 'योगिराज' अथवा 'योगीन्द्र' अर्थके द्योतक हैं, और 'यतीश'के साथ 'प्रथिततर' विशेषण लगाकर तो यह भी सूचित किया गया है कि वे एक बहुत बड़े प्रसिद्ध योगिराज थे। ऐसे ही उल्लेखोंको दृष्टिमें रखकर वादिराजने उक्त पद्यमें 'समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणका प्रयोग किया जान पड़ता है। और इसलिये यह कहना कि 'समन्तभद्र योगी नहीं थे अथवा योगीरूपसे उनका कहीं उल्लेख नहीं' किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। रत्नकरण्डकी अब तक ऐसी कोई प्राचीन प्रति भी प्रो० साहबकी तरफसे उपस्थित नहीं की गई जिसमें ग्रन्थकर्ता 'योगीन्द्र' नामका कोई विद्वान् लिखा हो अथवा स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरा कोई समन्तभद्र उसका कर्ता है ऐसी स्पष्ट सूचना साथमें की गई हो।

समन्तभद्र नामके दूसरे छह विद्वानोंकी खोज करके मैंने उसे रत्नकरण्डश्रावकाचारकी अपनी प्रस्तावनामें आजसे कोई २३ वर्ष पहले प्रकट किया था—उसके बादसे और किसी समन्तभद्रका अब तक कोई पता नहीं चला। उनमेंसे एक 'लघु', दूसरे 'चिक्क', तीसरे 'गेरुसोप्पे', चौथे 'अभिनव', पाँचवें 'भट्टारक', छठे 'गृहस्थ' विशेषणसे विशिष्ट पाये जाते हैं। उनमेंसे कोई भी अपने समयादिककी दृष्टिसे 'रत्नकरण्ड'का कर्ता नहीं हो सकता[3]। और इस लिये जबतक जैनसाहित्यपरसे किसी ऐसे दूसरे समन्तभद्रका पता न बतलाया जाय जो इस रत्नकरण्डका कर्ता होसके तब तक 'रत्नकरण्ड'के कर्ताके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोग-मात्रसे उसे कोरी कल्पनाके आधारपर स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रकी कृति नहीं कहा जा सकता।

ऐसी वस्तुस्थितिमें वादिराजके उक्त दोनों पद्योंको प्रथम पद्यके साथ स्वामिसमन्तभद्र-विषयक समझने और बतलानेमें कोई भी बाधा प्रतीत नहीं होती[1]। प्रत्युत इसके, वादिराजके प्रायः समकालीन विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्रका अपनी टीकामें 'रत्नकरण्ड' उपासकाध्ययनको साफ तौरपर स्वामी समन्तभद्रकी कृति घोषित करना उसे पुष्ट करता है। उन्होंने अपनी टीकाके केवल संधि-वाक्योंमें ही 'समन्तभद्रस्वामि-विरचित' जैसे विशेषणों-द्वारा वैसी घोषणा नहीं की बल्कि टीकाकी आदिमें निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा भी उसकी स्पष्ट सूचना की है—

"श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।"

हाँ, यहाँपर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि प्रो० साहबने अपने 'विलुप्त अध्याय' में यह लिखा था कि "दिगम्बरजैन साहित्यमें जो आचार्य स्वामीकी उपाधिसे विशेषतः विभूषित किये गये हैं वे आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र ही हैं।" और आगे श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेखमें भद्रबाहु द्वितीयके साथ 'स्वामी' पद जुड़ा हुआ देखकर यह बतलाते हुए कि "भद्रबाहुकी उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्यमें प्रायः एकान्ततः समन्तभद्रके लिये ही प्रयुक्त हुई है," समन्तभद्र और भद्रबाहु

१ "येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततम्।"

२ "स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद्-भूयाद्विभुर्भानुमान्।"
"स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः।"

३ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रस्तावना पृ० ५से ६।

१ सन् १९१२में तंजोरसे प्रकाशित होनेवाले वादिराजके 'यशोधर-चरित'की प्रस्तावनामें, टी. ए. गोपीनाथराव एम. ए. ने भी इन तीनों पद्योंको इसी क्रमके साथ समन्तभद्रविषयक सूचित किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयको "एक ही व्यक्ति" प्रतिपादन किया था। इसपरसे कोई भी यह फलित कर सकता है कि जिन समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद लगा हुआ हो उन्हें प्रो० साहबके मतानुसार आप्तमीमांका कर्ता समझना चाहिये। तदनुसार ही प्रो० साहबके सामने रत्नकरण्डकी टीकाका उक्त प्रमाण यह प्रदर्शित करनेके लिये रक्खा गया कि जब प्रभाचन्द्राचार्य भी रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकृत लिख रहे हैं और प्रो० साहब 'स्वामी' पदका असाधारण सम्बन्ध आप्तमीमसांकारके साथ जोड़ रहे हैं तब वे उसे आप्तमीमांसाकारसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रकी कृति कैसे बतलाते हैं? इसके उत्तरमें प्रो० साहबने लिखा है कि "प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं उन्होंने यह तो प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आप्तमीमांसीके भी रचयिता हैं[१]।" परन्तु साथमें लगा हुआ 'स्वामी' पद तो उन्हींके मन्तव्यानुसार उसे प्रकट कर रहा है यह देखकर उन्होंने यह भी कह दिया है कि 'रत्नकरण्डके कर्ता समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद बादको जुड़ गया है—चाहे उसका कारण भ्रांति हो या जानबूझकर ऐसा किया गया हो।' परन्तु अपने प्रयोजनके लिये इस कह देने मात्रसे कोई काम नहीं चल सकता जब तक कि उसका कोई प्राचीन आधार व्यक्त न किया जाय—कमसे कम प्रभाचन्द्राचार्यसे पहलेकी लिखी हुई रत्नकरण्डकी कोई ऐसी प्राचीन मूलप्रति पेश होनी चाहिये थी जिसमें समन्तभद्रके साथ स्वामी पद लगा हुआ न हो। लेकिन प्रो० साहबने पहलेकी ऐसी कोई भी प्रति पेश नहीं की तब वे बादको भ्रान्ति आदिके वश स्वामी पदके जुड़नेकी बात कैसे कह सकते हैं? नहीं कह सकते, उसी तरह जिस तरह कि मेरे द्वारा सन्दिग्ध करार दिये हुए रत्नकरण्डके सात पद्योंको प्रभाचन्द्रीय टीकासे पहलेकी ऐसी प्राचीन प्रतियोंके न मिलनेके कारण प्रक्षिप्त नहीं कह सकते[१] जिनमें वे पद्य सम्मिलित न हों।

इस तरह प्रो० साहबकी तीसरी आपत्तिमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। युक्तिके पूर्णतः सिद्ध न होनेके कारण वह रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एककर्तृत्वमें बाधक नहीं हो सकती, और इसलिये उसे भी समुचित नहीं कहा जा सकता।

(४) अब रही चौथी आपत्तिकी बात; जिसे प्रो० साहबने रत्नकरण्डके निम्न उपान्त्य पद्यपरसे कल्पित करके रक्खा है—

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥

इस पद्यमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए यह बतलाया गया है कि 'जिस (भव्यजीव)ने आत्माको निर्दोष विद्या, निर्दोष दृष्टि और निर्दोष क्रियारूप रत्नोंके पिटारेके भावमें परिणत किया है—अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मका आविर्भाव किया है—उसे तीनों लोकोंमें सर्वार्थसिद्धि—धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप सभी प्रयोजनोंकी सिद्धि—स्वयंवरा कन्याकी तरह स्वयं प्राप्त होजाती है, अर्थात् उक्त सर्वार्थसिद्धि उसे स्वेच्छासे अपना पति बनाती है, जिससे वह चारों पुरुषार्थोंका स्वामी होता है और उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना नहीं रहता।'

इस अर्थको स्वीकार करते हुए प्रो० साहबका जो कुछ विशेष कहना है वह यह है—

"यहाँ टीकाकार प्रभाचन्द्रके द्वारा बतलाये गये वाच्यार्थके अतिरिक्त श्लेषरूपसे यह अर्थ भी मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि "जिसने अपनेको अकलङ्क और विद्यानन्दके द्वारा प्रतिपादित निर्मल ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नोंकी पिटारी बना लिया है उसे तीनों स्थलोंपर सर्व अर्थोंकी सिद्धिरूप सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे इच्छामात्रसे पतिको अपनी पत्नी।" यहाँ निःसन्देहतः रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाओंका उल्लेख

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३, पृ० १२६।

१ अनेकान्त वर्ष ६, किरण १ पृ० १२पर प्रकाशित प्रो० साहबका उत्तर पत्र।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किया है। सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः अकलङ्ककृत राजवार्तिक एवं विद्यानन्दिकृत श्लोकवार्तिकमें प्रायः पूरी ही ग्रथित है। अतः जिसने अकलङ्ककृत और विद्यानन्दिकी रचनाओंको हृयङ्गम कर लिया उसे सर्वार्थसिद्धि स्वयं आजाती है। रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध होजाता है कि यह रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दिसे भी पीछेकी है[1]।" ऐसी हालतमें "रत्नकरण्डकारका आप्तमीमांसा के कर्तासे एकत्व सिद्ध नहीं होता[2]।"

यहाँ प्रो० साहब-द्वारा कल्पित इस श्लेषार्थके सुघटित होनेमें दो प्रबल बाधाएँ हैं—एक तो यह कि जब 'वीतकलंक' से अकलंकका और विद्यासे विद्यानन्दका अर्थ लेलिया गया तब 'दृष्टि' और 'क्रिया' दो ही रत्न शेष रह जाते हैं और वे भी अपने निर्मल-निर्दोष अथवा सम्यक् जैसे मौलिक विशेषणसे शून्य। ऐसी हालतमें श्लेषार्थके साथ जो "निर्मल ज्ञान" अर्थ भी जोड़ा गया है वह नहीं बन सकेगा और उसके न जोड़नेपर वह श्लेषार्थ ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ असङ्गत हो जायगा; क्योंकि ग्रन्थभरमें तृतीय पद्यसे प्रारम्भ करके इस पद्यके पूर्व तक सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नोंका ही धर्मरूपसे वर्णन है, जिस का उपसंहार करते हुए ही इस उपान्त्य पद्यमें उनको अपनानेवालेके लिये सर्व अर्थकी सिद्धिरूप फलकी व्यवस्था की गई है। इसकी तरफ किसीका भी ध्यान नहीं गया। दूसरी बाधा यह है कि 'त्रिषु विष्टयेषु' पदोंका अर्थ जो "तीनों स्थलोंपर" किया गया है वह सङ्गत नहीं बैठता; क्योंकि अकलंकदेवका राजवार्तिक और विद्यानन्दका श्लोकवार्तिक ग्रन्थ ये दो ही स्थल ऐसे हैं जहाँपर पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) शब्दशः तथा अर्थतः पाई जाती है, तीसरे स्थलकी बात मूलके किसी भी शब्दपरसे उसका आशय व्यक्त न करनेके कारण नहीं बनती। यह

१ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६ पृ० ५३

२ अनेकान्त वर्ष ८ किरण ३ पृ० १३२

बाधा जब प्रो० साहबके सामने उपस्थित की गई और पूछा गया कि 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ जो 'तीनों स्थलोंपर' किया गया है वे तीन स्थल कौनसे हैं जहाँपर सर्व अर्थकी सिद्धिरूप 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयं प्राप्त होजाती है ? तब प्रोफेसर साहब उत्तर देते हुए लिखते हैं—

"मेरा खयाल था कि वहाँ तो किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी सङ्गति सुस्पष्ट है जो टीकाकारने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र; क्योंकि वे तत्त्वार्थसूत्रके विषय होनेसे सर्वार्थसिद्धिमें तथा अकलङ्कदेव और विद्यानन्दिकी टीकाओंमें विवेचित हैं और उनका ही प्ररूपण रत्नकरण्डकारने किया है[1]।"

यह उत्तर कुछ भी सङ्गत मालूम नहीं होता; क्योंकि टीकाकार प्रभाचन्द्रने 'त्रिषु विष्टयेषु' का स्पष्ट अर्थ 'त्रिभुवनेषु' पदके द्वारा 'तीनों लोकमें' दिया है। उसके स्वीकारकी घोषणा करते हुए और यह आश्वासन देते हुए भी कि उस विषयमें टीकाकारसे भिन्न "किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता नहीं" टीकाकारका अर्थ न देकर 'अर्थात्' शब्दके साथ उसके अर्थकी निजी नई कल्पनाको लिये हुए अभिव्यक्ति करना और इस तरह 'त्रिभुवनेषु' पदका अर्थ "दर्शन, ज्ञान और चारित्र" बतलाना अर्थका अनर्थ करना अथवा खींचतानकी पराकाष्ठा है। इससे उत्तरकी सङ्गति और भी बिगड़ जाती है; क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओंमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र विवेचित हैं—प्रतिपादित हैं, बल्कि यह कहना होगा कि दर्शन, ज्ञान और चात्रिमें सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ विवेचित हैं—प्रतिपादित हैं, जो कि एक बिल्कुल ही उल्टी बात होगी। और इस तरह आधार-आधेय सम्बन्धादिकी सारी स्थिति बिगड़ जायगी; और तब श्लेरूपमें यह भी फलित नहीं किया जा सकेगा कि अकलङ्क और विद्यानन्दकी टीकाएँ ऐसे कोई स्थल या स्थानविशेष हैं जहाँपर पूज्यपादकी टीका सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त होजाती है।

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३ पृ० १३०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों बाधाओंके सिवाय श्लेषकी यह कल्पना अप्रासङ्गिक भी जान पड़ती है, क्योंकि रत्नकरण्डके साथ उसका कोई मेल नहीं मिलता, रत्नकरण्ड तत्त्वार्थसूत्रकी कोई टीका भी नहीं जिससे किसी तरह खींचतान कर उसके साथ कुछ मेल बिठलाया जाता, वह तो आगमकी ख्यातिको प्राप्त एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है, जिसे पूज्यपादादिकी उक्त टीकाओंका कोई आधार प्राप्त नहीं है और न हो सकता है। और इसलिये उसके साथ उक्त श्लेषका आयोजन एक प्रकारका असम्बद्ध प्रलाप ठहरता है अथवा यों कहिये कि 'विवाह तो किसीका और गीत किसीके' इस उक्तिको चरितार्थ करता है। यदि बिना सम्बन्धविशेषके केवल शब्दछलको लेकर ही श्लेषकी कल्पना अपने किसी प्रयोजनके वश की जाय और उसे उचित समझा जाय तब तो बहुत कुछ अनर्थोंके सङ्घटित होनेकी सम्भावना है। उदाहरणके लिये स्वामिसमन्तभद्र-प्रणीत 'जिनशतक'के उपान्त्य पद्य (नं० ११५)में भी 'प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा' इस वाक्यके अन्तर्गत 'सर्वार्थसिद्धि' पदका प्रयोग पाया जाता है और ६१वें पद्यमें तो 'प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां' इस वाक्यके साथ उसका रूप और स्पष्ट होजाता है, उसके साथ वाले 'गां' पदका अर्थ वाणी लगा लेनेसे वह वचनात्मिका 'सर्वार्थसिद्धि' होजाती है। इस 'सर्वार्थसिद्धि'का वाच्यार्थ यदि उक्त श्लेषार्थकी तरह पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि लगाया जायगा तो स्वामी समन्तभद्रको भी पूज्यपादके बादका विद्वान् कहना होगा और तब पूज्यपादके 'चतुष्टय समन्तभद्रस्य' इस व्याकरणसूत्रमें उल्लिखित समन्तभद्र चिन्ताके विषय बन जायेंगे तथा और भी शिलालेखों, प्रशस्तियों तथा पट्टावलियों आदिकी कितनी ही गड़बड़ उपस्थित हो जायगी। अतः सम्बन्धविशेषको निर्धारित किये बिना केवल शब्दोंके समानार्थको लेकर ही श्लेषार्थकी कल्पना व्यर्थ है।

इस तरह जब श्लेषार्थ ही सुघटित न होकर बाधित ठहरता है तब उसके आधारपर यह कहना कि "*रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध* होजाता है कि वह रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन हैं, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दिसे भी पीछेकी है" कोरी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। उसे किसी तरह भी युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता—रत्नकरण्डके 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' पद्यका न्यायावतारमें पाया जाना भी इसमें बाधक है। वह केवल उत्तरके लिये किया गया प्रयासमात्र है और इसीसे उसको प्रस्तुत करते हुए प्रो० साहबको अपने पूर्व कथनके विरोधका भी कुछ खयाल नहीं रहा; जैसा कि मैं इससे पहले द्वितीयादि आपत्तियोंके विचारकी भूमिकामें प्रकट कर चुका हूँ।

यहाँपर एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रो० साहब श्लेषकी कल्पनाके बिना उक्त पद्यकी रचनाको अटपटी और अस्वाभाविक समझते हैं; परन्तु पद्यका जो अर्थ ऊपर दिया गया है और जो आचार्य प्रभाचन्द्र-सम्मत है उससे पद्यकी रचनामें कहीं भी कुछ अटपटापन या अस्वाभाविकता का दर्शन नहीं होता है। वह बिना किसी श्लेषकल्पनाके ग्रन्थके पूर्व कथनके साथ भले प्रकार सम्बद्ध होता हुआ ठीक उसके उपसंहाररूपमें स्थित है। उसमें प्रयुक्त हुए विद्या, दृष्टि जैसे शब्द पहले भी ग्रन्थमें ज्ञान-दर्शन जैसे अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके अर्थमें प्रो० साहबको कोई विवाद भी नहीं है। हाँ, 'विद्या' से श्लेषरूपमें 'विद्यानन्द' अर्थ लेना यह उनकी निजी कल्पना है, जिसके समर्थनमें कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया, केवल नामका एक देश कहकर उसे मान्य कर लिया है[1]। तब प्रो० साहबकी दृष्टिमें

---

१ जहाँतक मुझे मालूम है संस्कृत साहित्यमें श्लेषरूपसे नामका एकदेश ग्रहण करते हुए पुरुषके लिये उसका पुल्लिंग अंश और स्त्रीके लिये स्त्रीलिंग अंश ग्रहण किया जाता है; जैसे 'सत्यभामा' नामका स्त्रीके लिये 'भामा' अंशका प्रयोग होता है न कि 'सत्य' अंशका। इसी तरह 'विद्यानन्द' नामका 'विद्या' अंश, जो कि स्त्रीलिंग है, पुरुषके लिये व्यवहृत नहीं होता। चुनाँचे प्रो० साहबने श्लेषके उदाहरणरूपमें जो '*देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्यकी रचनाका अटपटापन या अस्वाभाविकपन एकमात्र 'वीतकलङ्क' शब्दके साथ केन्द्रित जान पड़ता है, उसे ही सीधे वाच्य-वाचक-सम्बन्धका बोधक न समझकर आपने उदाहरणमें प्रस्तुत किया है। परन्तु सम्यक् शब्दके लिये अथवा उसके स्थान-पर 'वीतकलङ्क' शब्दका प्रयोग छन्द तथा स्पष्टार्थकी दृष्टिसे कुछ भी अटपटा, असङ्गत या अस्वाभाविक नहीं है; क्योंकि 'कलङ्क'का सुप्रसिद्ध अर्थ 'दोष' है[1] और उसके साथमें 'वीत' विशेषणविगत, मुक्त त्यक्त, विनष्ट अथवा रहित जैसे अर्थका वाचक है, जिसका प्रयोग समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंमें भी ऐसे स्थलोंपर पाया जाता है जहाँ श्लेषार्थका कोई काम नहीं; जैसे आप्तमीमांसाके 'वीतरागः' तथा 'वीतमोहतः' पदोंमें, स्वयम्भूस्तोत्रके 'वीतघनः' तथा 'वीतरागे' पदोंमें, युक्त्यनुशासनके 'वीतविकल्पधीः' और जिनशतकके 'वीतचेतोविकाराभिः' पदमें। जिसमेंसे दोष या कलङ्क निकल गया अथवा जो उससे मुक्त है उसे वीतदोष, निर्दोष, निष्कलङ्क, अकलङ्क तथा बीतकलङ्क जैसे नामोंसे अभिहित किया जाता है, जो सब एक ही अर्थके वाचक पर्याय नाम हैं। वास्तवमें जो निर्दोष है वही सम्यक् (यथार्थ) कहे जानेके योग्य है—दोषोंसे युक्त अथवा पूर्णको सम्यक् नहीं कह सकते। रत्नकरण्डमें सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध और वीतकलङ्क इन पाँचों शब्दोंको एक ही अर्थमें प्रयुक्त किया है और वह है यथार्थता—निर्दोषता, जिसके लिये स्वम्भूस्तोत्रमें 'समञ्जस' शब्दका भी प्रयोग किया गया है। इनमें 'वीतकलङ्क' शब्द सबसे अधिक शुद्धसे भी अधिक स्पष्टार्थको लिये हुए है और वह अन्तमें स्थित हुआ अन्तदीपककी तरह पूर्वमें प्रयुक्त हुए 'सत्' आदि सभी शब्दोंकी अर्थदृष्टि-पर प्रकाश डालता है, जिसकी जरूरत थी; क्योंकि 'सत्' सम्यक् जैसे शब्द प्रशंसादिके भी वाचक हैं वह प्रशंसादि किस चीजमें है? दोषोंके दूर होनेमें है। उसे भी 'वीतकलङ्क' शब्द व्यक्त कर रहा है। दर्शनमें दोष शङ्का-मूढतादिक, ज्ञानमें संशय-विपर्ययादिक और चारित्रमें राग-द्वेषादि होते हैं। इन दोषोंसे रहित जो दर्शन-ज्ञान और चारित्र हैं वे ही वीतकलङ्क अथवा निर्दोष दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उन्हीं रूप जो अपने आत्माको परिणत करता है उसे ही लोक-परलोक सर्व अर्थोंकी सिद्धि प्राप्त होती है। यही उक्त उपान्त्य पद्यका फलितार्थ है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पद्यमें 'सम्यक्'के स्थानपर 'वीत-कलङ्क' शब्दका प्रयोग बहुत सोच-समझकर गहरी दूर-दृष्टिके साथ किया गया है। छन्दकी दृष्टिसे भी वहाँ सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध या समञ्जस जैसे शब्दोंमेंसे किसीका प्रयोग नहीं बनता और इसलिये 'वीतकलङ्क' शब्दका प्रयोग श्लेषार्थके लिये अथवा द्राविडी प्राणायामके रूपमें नहीं है जैसा कि प्रोफेसर साहब समझते हैं। यह बिना किसी श्लेषार्थकी कल्पनाके ग्रन्थसन्दर्भके साथ सुसम्बद्ध और अपने स्थानपर सुप्रयुक्त है।

अब मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण करनेपर उसमें कितनी ही बातें ऐसी पाई जाती हैं जो उसकी अति प्राचीनताकी द्योतक हैं, उसके कितने ही उपदेशों-आचारों, विधि-विधानों अथवा क्रियाकाण्डोंकी तो परम्परा भी टीकाकार प्रभाचन्द्रके समयमें लुप्त हुई सी जान पड़ती है, इसीसे वे उनपर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाल सके और न बादको ही किसीके द्वारा वह डाला जा सका है; जैसे 'मूर्ध्वरूह-मुष्टि-वासो-बन्धं' और 'चतुरावर्त-त्रितय' नामक पद्योंमें वर्णित आचारकी बात। अष्ट-मूलगुणोंमें पञ्च अणुव्रतोंका समावेश भी प्राचीन

निजभक्त्या' नामका पद्य उद्धृत किया है उसमें विद्यानन्दका 'विद्या' नामसे उल्लेख न करके पूरा ही नाम दिया है। विद्यानन्दका 'विद्या' नामसे उल्लेखका दूसरा कोई भी उदाहरण देखनेमें नहीं आता।

१ 'कलङ्कोऽङ्के कालायसमले दोषापवादयोः।' विश्व० कोश० दोषके अर्थमें कलङ्क शब्दके प्रयोगका एक सुस्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः काय-वाक्-चित्त-सम्भवम्।
कलङ्कमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥—ज्ञानार्णव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परम्पराका द्योतक है जिसमें समन्तभद्रसे शताब्दियों बाद भारी परिवर्तन हुआ और उसके अणुव्रतोंका स्थान पञ्चउदम्बरफलोंने ले लिया[१]। एक चाण्डाल-पुत्रको 'देव' अर्थात् आराध्य बतलाने और एक गृहस्थको मुनिसे भी श्रेष्ठ बतलाने जैसे उदार उपदेश भी बहुत प्राचीनकालके संसूचक हैं जबकि देश और समाजका वातावरण काफी उदार और सत्यको ग्रहण करनेमें सक्षम था। परन्तु यहाँ उन सब बातोंके विचार एवं विवेचनका अवसर नहीं है—वे तो स्वतन्त्र लेखके विषय हैं, अथवा अवसर मिलने-पर 'समीचीन-धर्मशास्त्र'की प्रस्तावनामें उनपर यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यहाँ मैं उदाहरणके तौरपर सिर्फ दो बातें ही निवेदन कर देना चाहता हूँ और वे इस प्रकार हैं—

(क) रत्नकरण्डमें सम्यग्दर्शनको तीन मूढताओंसे रहित बतलाया है और उन मूढताओंमें पाखण्डि-मूढताका भी समावेश करते हुए उसका जो स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है—

सग्रन्थाऽऽरम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्त-वर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डि-मोहनम् ॥२४॥

'जो सग्रन्थ हैं—धन-धान्यादि परिग्रहसे युक्त हैं—आरम्भ सहित हैं—कृषि-वाणिज्यादि सावद्यकर्म करते हैं–, हिंसामें रत हैं और संसारके आवर्तोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं—भवभ्रमणमें कारणीभूत विवाहादि कर्मों-द्वारा दुनियाके चक्कर अथवा गोरखधन्धेमें फँसे हुए हैं, ऐसे पाखण्डियोंका—वस्तुतः पापके खण्डनमें प्रवृत्त न होने वाले लिङ्गी साधुओंका जो (पाखण्डीके रूपमें अथवा साधु-गुरु-बुद्धिसे) आदर-सत्कार है उसे 'पाखण्डिमूढ' समझना चाहिए।'

इसपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि रत्नकरण्ड ग्रन्थकी रचना उस समय हुई है जब कि 'पाखण्डी' शब्द अपने मूल अर्थमें—'पापं खण्डयतीति पाखण्डी' इस निर्युक्तिके अनुसार—पापका खण्डन करनेके लिये प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओंके लिये आमतौरपर व्यवहृत होता था, चाहे वे साधु स्वमतके हों या परमतके। चुनाँचे मूलाचार (अ० ५)में 'रत्तवड-चरग-तापस-परिहत्तादीयअण्णपासंडा' वाक्यके द्वारा रक्तपटादिक साधुओंको अन्यमतके पाखण्डी बतलाया है, जिससे साफ ध्वनित है कि तब स्वमत (जैनों)के तपस्वी साधु भी 'पाखण्डी' कहलाते थे। और इसका समर्थन कुन्दकुन्दाचार्यके समयासार ग्रन्थकी 'पाखंडी-लिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि' इत्यादि गाथा नं० ४०८ आदिसे भी होता है, जिनमें पाखण्डीलिङ्गको अनगार साधुओं (निर्ग्रन्थादि मुनियों)का लिङ्ग बतलाया है। परन्तु 'पाखण्डी' शब्दके अर्थकी यह स्थिति आजसे कोई दशों शताब्दियों पहलेसे बदल चुकी है और तबसे यह 'शब्द' प्रायः 'धूर्त' अथवा 'दम्भी-कपटी' जैसे विकृत अर्थमें व्यवहृत होता आरहा है। इस अर्थका रत्न-करण्डके उक्त पद्यमें प्रयुक्त हुए 'पाखण्डिन्' शब्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'पाखण्डी' शब्दके प्रयोगको यदि धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्यादृष्टि) साधु जैसे अर्थमें लिया जाय, जैसा कि कुछ अनुवादकोंने भ्रमवश आधुनिक दृष्टिसे ले लिया है, तो अर्थका अनर्थ हो जाय और 'पाखण्डि-मोहनम्' पदमें पड़ा हुआ 'पाखण्डिन्' शब्द अनर्थक और असम्बद्ध ठहरे। क्योंकि इस पदका अर्थ है 'पाखण्डियोंके विषयमें मूढ होना' अर्थात् पाखण्डीके वास्तविक[१] स्वरूपको न समझकर अपाखण्डियों

१ इस विषयको विशेष जाननेके लिये देखो लेखकका 'जैनाचार्योंका शासन-भेद' नामक ग्रन्थ पृष्ठ ७ से १५। उसमें दिये हुए 'रत्नमाला'के प्रमाणपरसे यह भी जाना जाता है कि रत्नमालाकी रचना उसके बाद हुई है जबकि मूल-गुणोंमें अणुव्रतोंके स्थानपर पञ्चोदम्बरकी कल्पना रूढ होचुकी थी और इस लिये भी रत्नकरण्डसे शताब्दियों बादकी रचना है।

१ पाखण्डीका वास्तविक स्वरूप वही है जिसे ग्रन्थकार महोदयने 'तपस्वी'के निम्न लक्षणमें समाविष्ट किया है। ऐसे ही तपस्वी साधु पापोंका खण्डन करनेमें समर्थ होते हैं:—

विषयाशा-वशाऽतीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा पाखण्ड्याभासोंको पाखण्डी मान लेना और वैसा मानकर उनके साथ तद्रूप आदर-सत्कारका व्यवहार करना। इस पदका विन्यास ग्रन्थमें पहलेसे प्रयुक्त 'देवतामूढम्' पदके समान ही है, जिसका आशय है कि 'जो देवता नहीं हैं—रागद्वेषसे मलीन देवताभास हैं—उन्हें देवता समझना और वैसा समझकर उनकी उपासना करना। ऐसी हालतमें 'पाखण्डिन्' शब्दका अर्थ 'धूर्त' जैसा करनेपर इस पदका ऐसा अर्थ होजाता है कि धूर्तोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं हैं उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कारका व्यवहार करना' और यह अर्थ किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। अतः रत्नकरण्डमें 'पाखण्डिन्' शब्द अपने मूल पुरातन अर्थमें ही व्यवहृत हुआ है, इसमें जरा भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है। इस अर्थकी विकृति विक्रम सं० ७३४से पहले होचुकी थी और वह धूर्त जैसे अर्थमें व्यवहृत होने लगा था, इसका पता उक्त संवत् अथवा वीरनिर्वाण सं० १२०४में बनकर समाप्त हुए श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मचरितके निम्न वाक्यसे चलता है—जिसमें भरत चक्रवर्तीके प्रति यह कहा गया है कि जिन ब्राह्मणोंकी सृष्टि आपने की है वे वर्द्धमान जिनेन्द्रके निर्वाणके बाद कलियुगमें महा-उद्धत 'पाखण्डी' हो जायेंगे। और अगले पद्यमें उन्हें 'सदा पापक्रियोद्यताः' विशेषण भी दिया गया है—

वर्द्धमान-जिनस्याऽन्ते भविष्यन्ति कलौ युगे।
एते ये भवता सृष्टाः पाखण्डिनो महोद्धताः॥ ४-११६

ऐसी हालतमें रत्नकरण्डकी रचना उन विद्यानन्द आचार्यके बादकी नहीं हो सकती जिनका समय प्रो० साहबने ई० सन् ८१६ (वि० संवत् ८७३)के लगभग बतलाया है।

(ख) रत्नकरण्डमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याऽशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेल-खण्ड-धरः॥१४७॥

इसमें, ११वीं प्रतिमा (कक्षा)-स्थित उत्कृष्ट श्रावकका स्वरूप बतलाते हुए, घरसे 'मुनिवन'को जाकर गुरुके निकट व्रतोंको ग्रहण करनेकी जो बात कही गई है उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रन्थ उस समय बना है जबकि जैन मुनिजन आमतौरपर वनोंमें रहा करते थे,—वनोंमें ही यत्याश्रम प्रतिष्ठित थे—और वहीं जाकर गुरु (आचार्य)के पास उत्कृष्ट श्रावकपदकी दीक्षा ली जाती थी। और यह स्थिति उस समयकी है जबकि चैत्यवास—मन्दिर-मठोंमें मुनियोंका आमतौर निवास—प्रारम्भ नहीं हुआ था। चैत्यवास विक्रमकी ४थी-५वीं शताब्दीमें प्रतिष्ठित हो चुका था—यद्यपि उसका प्रारम्भ उससे भी कुछ पहले हुआ था—ऐसा तद्विषयक इतिहाससे जाना जाता है। पं० नाथूरामजी प्रेमीके 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' नामक निबन्धसे भी इस विषयपर कितना ही प्रकाश पड़ता है[1] और इस लिये भी रत्नकरण्डकी रचना विद्यानन्द आचार्यके बादकी नहीं हो सकती और न उस रत्नमालाकारके समसामयिक अथवा उसके गुरुकी कृति हो सकती है जो स्पष्ट शब्दोंमें जैन मुनियोंके लिये वनवासका निषेध कर रहा है—उसे उत्तम मुनियोंके द्वारा वर्जित बतला रहा है—और चैत्यवासका खुला पोषण कर रहा है[2]। वह तो उन्हीं स्वामी समन्तभद्रकी कृति होनी चाहिये जो प्रसिद्ध वनवासी थे, जिन्हें प्रोफेसर साहबने श्वेताम्बर पट्टावलियोंके आधारपर 'वनवासी' गच्छ अथवा सङ्घके प्रस्थापक 'सामन्तभद्र' लिखा है जिनका श्वेताम्बर-मान्य समय भी दिगम्बर-मान्य समय (विक्रमकी दूसरी शताब्दी) के अनुकूल है और जिनका आप्तमीमांसाकारके साथ एकत्व माननेमें प्रो० सा०को कोई आपत्ति भी नहीं है।

रत्नकरण्डके इन सब उल्लेखोंकी रोशनीमें प्रो० साहबकी चौथी आपत्ति और भी निःसार एवं निस्तेज होजाती है और उनके द्वारा ग्रन्थके उपान्त्य पद्यमें की गई श्लेषार्थकी उक्त कल्पना बिल्कुल ही

१ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४७से ३६९

२ कलौकाले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थापितं च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥२२—रत्नमाला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्मूल ठहरती है—उसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं होता। रत्नकरण्डके समयको जाने-अनजाने रत्नमालाके रचनाकाल (विक्रमकी ११वीं शताब्दीके उत्तरार्ध या उसके भी बाद)के समीप लानेका आग्रह करनेपर यशस्तिलकके अन्तर्गत सोमदेवसूरिका ४६ कल्पोंमें वर्णित उपासकाध्ययन (वि० सं० १०१६) और श्रीचामुण्डरायका चारित्रसार (वि० सं० १०३५के लगभग) दोनों रत्नकरण्डके पूर्ववर्ती ठहरेंगे, जिन्हें किसी तरह भी रत्नकरण्डके पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनों रत्नकरण्डके कितने ही शब्दादिके अनुसरणको लिये हुए हैं—चारित्रसारमें तो रत्नकरण्डका 'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' नामका एक पूरा पद्य भी 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत है। और तब प्रो० साहबका यह कथन भी कि 'श्रावकाचार-विषयका सबसे प्रधान और प्राचीन ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है' उनके विरुद्ध जायगा, जिसे उन्होंने धवलाकी चतुर्थ पुस्तक (क्षेत्रस्पर्शन अनु०) प्रस्तावनामें व्यक्त किया है और जिसका उन्हें उत्तरके चक्करमें पड़कर कुछ ध्यान रहा मालूम नहीं होता और वे यहाँ तक लिख गये हैं कि "रत्नकरण्ड की रचनाका समय इस (विद्यानन्दसमय वि० सं० ८७३)के पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२)से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्नकरण्डश्रावकाचार और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आजाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता'।"

इस तरह गम्भीर गवेषणा और उदार पर्यालोचनोंके साथ विचार करनेपर प्रो० साहबकी चारों दलीलें अथवा आपत्तियोंमेंसे एक भी इस योग्य नहीं ठहरती जो रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करने अथवा दोनोंके एक कर्तृत्वमें कोई बाधा उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सके और इसलिये बाधक प्रमाणोंके अभाव एवं साधक प्रमाणोंके सद्भावमें यह कहना न्याय-प्राप्त है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उन्हीं समन्तभद्र आचार्यकी कृति है जो आप्तमीमांसा (देवागम)के रचयिता हैं। और यही मेरा निर्णय है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० २१-४-१९४८

जुगलकिशोर मुख्तार

१ अनेकान्त वर्ष ७, किरण ५-६, पृ० ५४

अमूल्य तत्त्वविचार

बहुत पुण्यके पुञ्जसे इस शुभ मानव-देहकी प्राप्ति हुई; तो भी अरे रे! भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होजाता है, इसे जरा अपने ध्यानमें लो। अहो! इस क्षण-क्षणमें होने वाले भयङ्कर भाव-मरणमें तुम क्यों लवलीन हो रहे हो? ॥१॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया? क्या कुटुम्ब परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो? हर्गिज ऐसा मत मानो; [illegible]कि संसारका बढ़ना मानो मनुष्य-देहको हार जाना है। अहो! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता? ॥२॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको, जहाँ कहींसे भी वह मिल सके वहींसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्य शक्तिमान आत्मा जञ्जीरोंसे निकल सके। इस बातकी सदा मुझे दया है कि परवस्तुमें मोह नहीं करना। जिसके अन्तमें दुःख है उसे सुख कहना, यह त्यागने योग्य सिद्धान्त है ॥३॥

मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, यह सम्बन्ध किस कारणसे हुआ है, उसे रक्खूं या छोड़ दूँ? यदि इन बातोंका विवेकपूर्वक शान्तभावसे विचार किया तो आत्मज्ञानके सब सिद्धान्त-तत्त्व अनुभवमें आगए ॥४॥

—श्रीमद्राजचन्द्र

Jain Education International   For Personal & Private Use Only   www.jainelibrary.org

इज़्ज़त बड़ी या रुपया

[लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

देहलीकी एक प्रसिद्ध सर्राफ़ेकी दूकानपर ४०-५० हज़ार रुपयोंकी गिन्नियाँ गिनी जारही थीं कि एक उचट कर इधर-उधर होगई। काफी तलाश करनेपर भी नहीं मिली। उस दूकानपर उनका कोई ग़रीब रिश्तेदार भी बैठा हुआ था। संयोगकी बात कि उसके पास भी एक गिन्नी थी। गिन्नी न मिलते देख, उसने मनमें सोचा कि "शायद अब तलाशी ली जायगी। ग़रीब होनेके नाते मुझीपर शक जायगा। मेरे पास भी गिन्नी हो सकती है किसीको यकीन नहीं आयगा। गिन्नी भी छीन लेंगे और बेइज्जत भी करेंगे। इससे तो बेहतर यही है कि गिन्नी देकर इज्जत बचाली जाए।"

ग़रीबने यही किया! जेबमेंसे गिन्नी चुपकेसे निकाल कर ऐसी जगह डाल दी कि खोजनेवालोंको मिल गई। गिन्नी देकर वह खुशी-खुशी अपने घर चला गया! बात आई-गई हुई!

दीवालीपर दावात साफ़ की गई तो उसमेंसे एक गिन्नी निकली। गिन्नीको दावातमेंसे निकलते देख लाला साहब बड़े क्रुद्ध हुए। "रुपयोंकी तो बिसात क्या, यहाँ गिन्नियाँ इधर-उधर रूली फिरती हैं, फिर भी रोकड़बहीका जमा खर्च ठीक मिलता रहता है। हद होगई इस अन्धेरकी।"

रोकड़िया परेशान कि यह हुआ तो क्या हुआ? "इतनी सचाई और लगनसे हिसाब रखनेपर भी यह लाँछन व्यर्थमें लग रहा है।" सोचते-सोचते उसे उस रोज़की घटना याद आई। काफी देर अक़्लसे कुश्ती लड़नेपर उसे ख़याल आया कि "कहीं वह गिन्नी उचट कर दावातमें तो नहीं गिर गई थी, तब वह गिन्नी मिली कैसे? शायद उस ग़रीबने अपने पाससे डालकर खुजवादी हो।" यह ख़याल आते ही वह स्वयं अपनी इस मूर्खतापर हँस पड़ा। भला उसके पास गिन्नी कहाँसे आती? उसके बड़ोंने भी कभी गिन्नियाँ देखी हैं जो वह देखता? और शायद कहीं-से झाँप भी ली हो तो, वह इतना बुद्धू कब है जो उसे हमें दे देता?"

जब ख़याल कल्पनाने साथ नहीं दिया तो यह उलझा हुआ विचार लाला साहबके सामने पेश किया गया! लाला साहब सब समझ गये। उनका रिश्ते-दार ग़रीब तो ज़रूर है, पर विश्वस्त और बाइज्जत है, यह वह जानते थे। अतः लाला साहब उसके पास गये और वास्तविक घटना जाननी चाही तो काफी टालमटोलके बाद ठीक स्थिति समझादी! लाला साहब गिन्नी वापिस करने लगे तो बोला—

"भैया साहब, मैं अब इसे लेकर क्या करूँगा? मेरी उस वक्त आबरू रह गई यही क्या कम है? आबरूके लिये ऐसी हज़ारों गिन्नियाँ कुर्बान! मेरे भाग्यमें गिन्नी होती तो यह घटना ही क्यों घटती? मुझे सन्तोष है कि मेरी बात रह गई। रुपया तो हाथका मैल है फिर भी इकट्ठा हो सकता है, पर इज्ज़त-आबरू वह जानेपर फिर वापिस नहीं आती।"

२

कुछ इसीसे मिलती-जुलती घटना इन पंक्तियोंके लेखकके साथ भी घटी। सन् १९२०में लाला नारायणदास सूरजभानकी दुकानपर कपड़ेका काम सीखता था। उनके यहाँ हुण्डियोंका लेन-देन भी होता था। दिनमें कई बार दलाल रुपये लाता और ले जाता। बार-बार उन चाँदीके रुपयोंको कौन गिने? बग़ैर गिने ही आते और चले जाते। उन रुपयोंको मैं ही लेता और देता; कभी एक रुपयेकी भी घटी-बढ़ी नहीं हुई। एक रोज़ असावधानीसे वह रुपये ऊपरसे नीचे गिर पड़े और खन-खन करते हुए समूची दुकानमें बिखर गये। बटोर कर गिने तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच रुपये कम ! मेरी जेबमें भी घर खर्चके लिये ५) रुपये चाँदीके पड़े थे ! मैं बड़ा चकराया, अब क्या होगा ? न मिले तो जैसे बात बनेगी ? लाला चुपचाप गद्दीपर बैठे थे, मैंने ही रुपये बखेरे थे और मैं ही उन्हें गिन रहा था। जी बड़ा धुकड़-पुकड़ करने लगा। छोटी आयु और नया-नया इनके यहाँ आया हूँ। यद्यपि पूरा विश्वास करते हैं, परन्तु प्रामाणिकताकी जाँचसे तो अभी नहीं निकला हूँ। कहीं इन्हें शक होगया तो, जेबमें पाँच रुपये हैं ही चोर बनते क्या देर लगेगी ? इसी ऊहापोहमें गिन्नी वाली घटना याद आई तो मन एकदम स्वस्थ्य होगया। रुपये अपने पाससे मिलानेका सङ्कल्प करके भी खोजनेमें लगा रहा और मेरे सौभाग्यसे पाँचों रुपये मिल भी गये !

रुपये मिलनेपर मुझे प्रसन्नता होनेके बजाय क्रोध हो आया ! मैंने लालासे कहा—"देखिये पाँच रुपये कम हो रहे थे और मेरी जेबमें भी पाँच ही थे ! न मिलते तो मैं चोर बन गया था। आइन्दा हुण्डियोंके रुपये गिनकर लेने और देने चाहियें।" लाला मेरे इस बचपने पर हँसे और बोले—"तुम व्यर्थ अपने जीको हलका क्यों कर रहे हो तुमपर यकीन न होता तो हम यह हज़ारों रुपये तुम्हें कैसे बिन गिने दे दिया करते ? और इतने रुपये बार-बार गिनना कैसे मुमकिन हो सकता है ? आजतक बीच एक पैसेका फ़र्क न पड़ा तो आगे क्यों पड़ेगा, और पड़ेगा भी तो तुम्हें उसकी चिन्ता क्यों ?"

किन्तु मैं इस घटनासे ऐसा शङ्कित होगया कि रुपये गिनकर लेने-देनेकी बातपर अड़ा रहा। और इस नियमकी स्वीकृति न मिलनेसे मैं बारबार पुचकारनेपर भी दूसरे दिनसे दूकानपर नहीं गया !

३

उक्त घटनाओंका सन् ३४में गुड़गाँवके लाला बनारसीदास जैनके सामने ज़िक्र आया तो बोले—अजी साहब, एक इसी तरहकी घटना हम आपबीती आपको सुनाते हैं।

हमारे पिताजीके एक मित्र हमारे ज़िलेमें रहते हैं। वे जब मुक़दमे या सामान ख़रीदनेको गुड़गाँव आते हैं तो हमारे यहाँ ही ठहरते हैं। एक रोज़ उनका पत्र आया कि "जिस चारपाईपर मैं सोया था, अगर वहाँ लाल रङ्गका मेरा अङ्गोछा मिले तो सम्हाल कर रख लेना।" अँगोछा तलाश किया गया, मगर नहीं मिला। वे जाड़ोंके विस्तरोंमें सोचते थे और वह जाड़े खत्म होनेसे ऊपर टाँडपर रख दिये गये थे। सिर्फ एक अङ्गोछेके लिये घरभरके इतने विस्तरे उठाकर देखनेकी ज़रूरत नहीं समझी गई। और अङ्गोछा नहीं मिलनेकी उन्हें सूचना भिजवादी गई ! बात आई-गई हुई, वे हमेशाकी तरह हमारे यहाँ आते-जाते रहे।

दीवालीपर मकानकी सफाई हुई और जाड़ोंके बिस्तरे धूपमें डाले गये तो उनमेंसे लाल अङ्गोछा धमसे नीचे गिरा। खोलकर देखा तो दस हज़ारके नोट निकले। हम सब हैरान कि यह इतने नोट कहाँसे आये, किसने यहाँ छिपाकर रखे। सोचते-सोचते ख़याल आया कि हो न हो यह रुपये उनके ही होंगे। इस अङ्गोछेमें रुपये थे इसीलिये तो उन्होंने अङ्गोछा तलाश करके रखनेको लिखा था, सिर्फ अङ्गोछेके लिये वे क्यों लिखते ? मैं उनके पास रुपये लेकर गया और उलाहना देते हुए बोला—"चाचा जी ! आप भी खूब हैं, इतनी बड़ी रक़मका तो ज़िक्र भी नहीं किया, सिर्फ़ अङ्गोछा सम्हालकर रखलेनेको लिख दिया और हमारे मना लिख देनेपर भी आपने कभी इशारा तक नहीं किया। बताइये कोई नौकर ले गया होता तो टाँडपर चूहे ही काट गये होते तो, हमारा तो हमेशाको काला मुँह बना रहता।

चचा हँसकर बोले—"भाई जितनी बात लिखनेकी थी, वह तो लिख ही दी थी। मेरा ख़याल था कि तुम समझ जाओगे कि कोई न कोई बात ज़रूर है। वर्ना दो आनेके पुराने अङ्गोछेके लिये दो पैसेका कार्ड कौन ख़राब करता ! और रुपयोंका ज़िक्र जानबूझकर इसलिये नहीं किया कि अगर कोई उठा ले गया होगा तो भी तुम अपने पाससे दे जाओगे। अपनी इस असावधानीके लिये तुम्हें परेशानीमें डालना मुझे इष्ट न था।" १३ फरवरी १९४८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त

[महात्मा भगवानदीनजी]

दर्शन, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार आदि विद्याओंके सिद्धान्त गढ़े नहीं जाते—खोजे जाते हैं, इकट्ठे किये जाते हैं। इकट्ठे होनेपर विद्वान् उन्हें अलग-अलग करते हैं और उनके नाम रख देते हैं। नाम प्रायः अटपटे होते हैं। विद्वानों तकको उनके समझनेमें मुश्किल होती है औरोंका तो कहना ही क्या ?

इस सवालका जवाब कि अनेकान्त कबसे है ? यही हो सकता है कि जबसे जगत तबसे अनेकान्त। अगर जगतको किसीने बनाया है तो वह अनेकान्ती रहा होगा। और अगर जगत अनादि है तो अनेकान्त भी अनादि है। इस द्वन्द्वयुक्त जगतमें और इस उपजने-विनशनेवाली दुनियामें अनेकान्तके बिना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। तरह-तरहकी दुनियामें मेल बनाये रखनेके लिये अनेकान्त अत्यन्त आवश्यक है।

अनेकान्त तर्कका एक सिद्धान्त है। तर्क इकट्ठी की हुई विद्या है। अनेकान्तको बोलचालमें 'तरह-तरह से कहना' कह सकते हैं। हम जब मिल-जुलकर प्रेम प्यारसे रहते हैं तब अनेकान्तमें ही बातचीत करते हैं। हँसी-मज़ाकमें कभी-कभी एकान्त भी चल पड़ता है। पर टिक नहीं पाता। लड़ाई-झगड़ोंमें एकान्तसे ही काम लिया जाता है फिर भी वे लड़ाई-झगड़े चाहे घरेलू हों, देशके या धर्मके। अनेकान्तको काममें तो सब सब धर्मवाले लाते हैं पर अलग विद्याका रूप इसे हिन्दुस्तानके एक धर्म विशेषने ही दे रखा है। और वही इसकी दुहाई जगह-बजगह देता रहता है।

दो अनेकान्ती लड़-झगड़ नहीं सकते। पर लड़ना-झगड़ना मनुष्यका स्वभाव बना हुआ है और अनेकान्तका हथियार लेकर ही लड़ते हैं तो असलमें उनके हाथोंमें एकान्त ही के हथियार होते हैं। पर वे हथियार अनेकान्तके खोलमें होते हैं इसलिये जब भरी सभामें वे खोलसे बाहर आते हैं तो समझदार तमाशा देखने वाले हँस पड़ते हैं। अनेकान्तका और भी सीधा नाम 'झगड़ा-फैसल' हो सकता है। अब जहाँ 'झगड़ा-फैसल' मौजूद हो वहाँ झगड़ा कैसा ? अनेकान्ती (यानी तरह-तरहसे कहने समझाने वाला) लड़े-झगड़ेगा क्यों ? वह तो दूसरेकी बातको समझने की कोशिश करेगा, शङ्का करेगा, कम बोलेगा, सामने वालेको ज्यादा बोलने देगा और जब समझ जावेगा तो मुसका देगा, शायद हँस भी दे और शायद सामनेवालेको गले लगाकर यह भी बोल उठे 'आहा, आपका यह मतलब है, ठीक ! ठीक !'

कोई हकीम नुसखेमें अगर "वर्गे रेहाँ" लिख दे तो आप जरूर कुछ पैसे अत्तारके यहाँ ठगा आयेंगे। यों आप वर्गेरेहाँ (तुलसीके पत्ते) घरकी तुलसीसे तोड़कर रोज़ ही चबा लेते हैं। अनेकान्तसे रोज़ काम लेनेवाले आपमेंसे कुछ अनेकान्तको न समझते होंगे इसलिये उसे थोड़ासा साफ कर देना जरूरी है।

सेठ हीरालाल जब यह कह रहे हैं कि आज दो अक्टूबर दोपहरके ठीक बारह बजे मेरा लड़का रामू बड़ा भी है और छोटा भी तब वे अनेकान्तकी भाषा बोल रहे हैं। पर कोई एकदम यह कह बैठे 'बिल्कुल गलत' तो ऐसा कहनेवाला या तो मूर्ख है, जल्दबाज है नहीं तो एकान्ती तो है ही। और कोई यह पूछ बैठे 'कैसे ?' तो वह भला आदमी है, समझदार भी है पर बुद्धिपर जोर नहीं देना चाहता, अनेकान्तसे उसे प्यार भी है। बात बिल्कुल सीधी है रामू असलमें उस दिन दस बरसका हुआ वह अपने सात बरसके छोटे भाई श्यामूसे बड़ा और तेरह बरसके बड़े भाई धर्मूसे छोटा है। सेठ हीरालाल यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी कह बैठे कि मेरे लोटेका पानी इसी वक्त ठण्डा और गरम है तो अनेकान्तकी सीमामें ही रहेंगे। पानी अगर सौ दरजे गरम है तो घड़ेके अड़सठ दरजेके पानीसे गरम और चूल्हेपर चढ़े बर्तनके एकसौ बीस दरजेके पानीसे ठण्डा है। आह पतीलीमें हाथ डालकर लोटेमें डालिये तो आपको इनकी बातकी सचाईका पता लग जायगा। यह हुआ हँसता खेलता घरेलू अनेकान्त।

अब लीजिये धर्मका भारी भरकम अनेकान्त।

एक हिन्दू पीली मिट्टीके एक ढेलेमें कलाया लपेट कर उसमें गणेशको ला बैठाता है। एक जैन उससे भी बढ़कर धानसे निकले एक चावलमें भगवानको विराजमान कर देता है। पर वही हिन्दू, कोयले, खड़िया या गेरूके टुकड़ेमें वैसा करनेसे हिचक ही नहीं डरता है और वही जैन एक खण्डित मूर्ति या एक कपड़ा पहने सुन्दर मूर्तिमें भगवानकी स्थापना करनेमें इतना भयभीत होता है मानों कोई बड़ा पाप कर रहा हो। और वही हिन्दू जबलपुरके धुंआंधारमें जाकर जिसतिस पत्थरको गणेशजी मान लेता है वही जैन सोनागिरिपर चढ़कर अनगढ़ मूर्तियोंको भगवानकी स्थापना मानकर उनके सामने माथा टेक देता है। अतदाकार स्थापनाकी बात दोनों ही रिवाजकी भाङ्ग पीकर भूल जाते हैं। यह घरमें अनेकान्ती रहते हुए रिवाजमें कट्टर एकान्वी बन जाते हैं। वे करें क्या? असलमें धर्ममें अनेकान्तीने अभी तक जगह ही नहीं पाई।

रेलमें बैठा एक मुसाफिर यदि यह चिल्ला उठे 'जयपुर आगया' तो कोई दूसरा मुसाफिर उसके पीछे डण्डा लेकर खड़ा नहीं होता और न उससे यही पूछता है कि जयपुर कैसे आगया, क्या जयपुर चला आता है जो तू आगया कहता है? और न यह कहकर उसे दुरुस्त करता है कि हम 'जयपुर आगये' ऐसा कह। कोई बहू यदि अपने बरसोंसे घरसे भागे निखट्टू पतिके सम्बन्धमें अपनी सासके सामने यह कह बैठे कि मैं तो सुहागिन होते विधवा हूँ, या मेरा पति जीता मरा हुआ है तो सास यह सुनकर पल्ला लेकर रोने नहीं लग जाती है। वह अनेकान्ती है, वह समझती है कि बहूका क्या मतलब है!

महावीर स्वामी जब गर्भमें आये उसी दिनसे उनके भक्त उन्हें भगवान नामसे पुकारते हैं। ठीक है। अनेकान्त ऐसा करनेकी इजाजत देता है। निर्वाण तक और उसके बादसे आजतक वे भगवान ही हैं। बचपनमें वे रोटी खाते थे, मुनि होकर आहार भी लेते थे। अब कोई यह कहे कि भगवान महावीर रोटी खाते थे, आहार लेते थे तो इसमें भूल कहाँ है? अनेकांतीको इसे माननेमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती। वही भक्त कुन्दकुन्द स्वामीके पास रहकर यह कहने लगे कि भगवानने कभी खाना खाया ही नहीं तो इसमें भी भूल कहाँ? अनेकान्ती जरा बुद्धि-पर जोर देकर इसे समझ लेगा। कुन्दकुन्द स्वामी देहको भगवान नहीं मानते। जीवको भगवान मानते हैं। देहको भगवान मानना निश्चयनय या सत्यनयकी शानके खिलाफ है। जीव न खाता है, न पीता है न करता है, न मरता है, न जन्म लेता है। साँप पवनभक्षी कहलाता है। दो द्रवायें मिलकर पानी बन जाती हैं यह बात स्कूलके लड़के भी जानते हैं। महावीर स्वामीका देह निर्वाणसे एक समय पहले तक यदि सांस लेता रहा, लेता रहो। महावीर स्वामी-के निर्लेप जीवको इससे क्या। महावीर भगवान खाना खाते थे और नहीं भी खाते थे। यह इतना ही ठीक कथन है जितना सेठ हीरालालका यह कह बैठना कि मेरा बीमार लड़का रामू पानी पीता भी है और नहीं पीता क्योंकि वह पीकर कय कर देता है, उसको हज्म नहीं होता। अनेकान्तमें वही तो गुण है कि वह झगड़ेका फैसला चुटकी बजाते कर देता है। जभी तो मैंने उसका नाम झगड़ा फैसल रखा है।

अनेकान्त घर-घरमें है, मन-मनमें है। मन्दिर-मन्दिरमें नहीं है, धर्म-धर्ममें नहीं है, राज-राजमें नहीं है। वहाँ फैलानेकी जरूरत है। पढ़ने-पढ़ानेकी चीज नहीं, लिखने-लिखानेसे कुछ होना आना नहीं। अनेकान्तका पौदा अभ्यासका जल चाहता, सहिष्णुता के खादकी उसे जरूरत है, सर्वधर्म समभावके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पराक्रमी जैन

पथिक ! इस वाटिकाकी बर्बादीका कारण इन उल्लुओं और कौओंसे न पूछकर हमसे सुन । ये तुझे भ्रममें डाल देंगे । हमारे ही बड़ोंने इसे अपने रक्तसे सींचा था । उन्हींकी हड्डियोंकी खातसे यह सर-सब्ज हुआ था । वे चल बसे, हम चलने वाले हैं, पर इसके एक-एक अणुपर हमारा अमिट बलिदान अङ्कित है ।

जो लोग कहते हैं—'भारतके आदि निवासी और थे, हम एरियन (आर्य) यहाँ दूसरी जगहसे आकर बसे', वे सचमुच दूसरी जगहसे आये होंगे । मगर हम यहाँके क़दीमी बाशिन्दे हैं । क़दीमी बाशिन्दे क्या, हम यहाँके मालिक हैं । यहाँके कण-कणपर हमारे आधिपत्यकी मुहर लगी हुई है ।

भारतवर्ष हमारे प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीके नामसे प्रसिद्ध है । उनकी अमर कीर्तिका सजीव स्मारक है । उससे पहले हमारा भारत जम्बूद्वीप आदि किन नामोंसे प्रसिद्ध था, इस गहराईमें उतरनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं । हमारा देश जबसे 'भारत' हुआ, उससे भी बहुत पहलेसे आजतक भारतकी आन और मानपर मिटने की जो शानदार कुर्बानियाँ जैन-वीरोंने की हैं, वे यद्यपि सबकी सब चिथड़ोंके बने काग़ज़पर लिखी हुई नहीं हैं, फिर भी इतिहासके अधूरे पृष्ठोंमें और पृथ्वीके गर्भमें जो छुपी पड़ी हैं, आँख वाले उन्हें देख सकते हैं ।

जिसे पौराणिक युग कहा जाता है, जो जैनोंका सबसे उज्ज्वल पृष्ठ है, उसे न भी खोला जाय तो भी ऐतिहासिक युगके अवतरण जैनोंकी गौरव-गरिमाके चारण बने हुए हैं ।

३२५ ई० पूर्व यूनानसे तूफ़ानकी तरह उठकर सिकन्दर महान् पर्वतोंको रौंदता, नदियोंको फलाँगता देशके-देश कुचलता हुआ भूखे शेरकी भाँति जब भारतपर टूटा, तबका चित्र काश लिया गया होता तो आजके युवक उसे देखकर दहशतसे चीख़ उठते । बाज़ जैसे चिड़ियोंपर, सिंह जैसे हरिण समूहपर और नाग जैसे चूहोंपर झपटता है, उससे भी अधिक उसका भयानक आक्रमण था । करारी बूंदोंकी मार और सूर्यकी प्रचण्ड धूपको पर्वत जिस अनमने भाव

मैदानमें उसकी पौद लगनी चाहिये, सार्व-प्रेमकी हवा उसको पिलाई जानी चाहिये, विचार स्वातन्त्र्यकी धूप उसे खिलानेकी जरूरत है, वह वट-वृक्षकी तरह अमर है, बढ़ेगा, फैलेगा, फूलेगा, फलेगा ।

अगर कोई धर्म प्रगति-शील है, उसके ग्रन्थोंमें नित्य कुछ घटाया-बढ़ाया जाता है तो समझना चाहिये कि अनेकान्तका सिद्धान्त उस धर्ममें जीता जागता है। यदि ऐसा नहीं है तो समझना चाहिये कि उस धर्मके पण्डितों और अनुयायियोंकी जिह्वापर है काममें नहीं है । विज्ञानमें, कानूनमें, साहित्यमें, कलामें, सङ्गीत इत्यादिमें वह जीवित है । देशमें, राजमें, धर्ममें वह मर चुका है । अनेकान्त व्यावहारिक धर्मका प्राण है और समुदायकी शान्तिका ईश्वर है । अनेकता अनेकान्तके बिना टकरायेगी, टूटे-फूटेगी मरेगी नहीं । और अनेकता अनेकान्तके साथ, मिलेगी-जुलेगी, मीठे स्वर निकालेगी, आनन्दके बाजे बजायेगी, सुख देगी ।

अनेकान्तका फल है स्वसमय, आत्माकी निर्लेप अवस्थाका ज्ञान, बेखुदीका इल्म, कर्मयोग, अनासक्तियोग, जीवन मुक्त होजाना और परमात्मा बन जाना । [वीरसे]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से सहन करता है। आँधीके वेगका वृक्ष जैसे सर झुकाकर बर्बस स्वागत करता है। उसी तरह भारतने सिकन्दरके आक्रमणपर यह सब किया!

जानपर खेल जानेका जिनका स्वभाव था, वह सिकन्दरकी युद्धाग्निमें पतङ्गेकी भाँति मर मिटे, कुछ गायकी तरह डकराये, कुछ नीची गर्दन किये भेड़ोंकी मौत मरे, कुछ हाय करके रह गये, कुछ विधाताकी लीला समझ चुप होगये। पर जिनके रक्तमें उबाल था, वे कीड़े-मकोड़े, भेड़, बकरियोंकी तरह कैसे अपमानित जीवन व्यतीत करते?

उन्हींमें चन्द्रगुप्त था, पर निरा अबोध बालक। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे सामर्थ्यवान सेना-संग्रह किये बग़ैर रावणसे भिड़नेको प्रस्तुत नहीं हुए, तब बालक चन्द्रगुप्त उस सिकन्दरसे कैसे टकराता जो पहाड़की तरह कठोर और दैत्यकी तरह रक्त-लोलुप था

पर चन्द्रगुप्तमें साहस था, उसमें धैर्य था और चट्टानकी तरह स्थिर निश्चय था। 'भरत'का 'भारत' वह पद्दलित होते कैसे देख सकता था? उसने लोहेसे लोहा काटनेका निश्चय किया। सिकन्दरके पेटमें घुसकर उसने उसकी अन्तरङ्ग शक्ति और कमज़ोरीको भाँपा! और चाणक्यको लेकर नवीन पद्धतिसे सैन्य-संग्रह प्रारम्भ कर दिया।

भाग्यकी बात; महान् सिकन्दरकी क़िस्मतमें पराजयका कलङ्क नहीं बदा था। वह सैनिकोंके विद्रोह करनेपर पञ्जाबसे लौट गया और मार्गमें मर गया। उसके सेनापति सेल्युकसके हृदयमें भारत विजय करनेकी लालसा थी। सिकन्दरके आँख बन्द करते ही उसने वह विश्व-विजयी सेना फिर भारतकी ओर फेरी और कामदेवकी तरह दुन्दुभि बजाता हुआ भारतपर छागया।

चन्द्रगुप्तके क्रोधकी सीमा न रही। भारतके सुखी जीवनमें वह कैसे अशान्ति देख ले, वह कैसे अपने नेत्रोंसे धार्मिक क्षेत्रोंपर होते उत्पात देखे और कैसे कानोंसे अबलाओंका करुण-क्रन्दन सुने? वह अपने पूर्वजोंके भारतको क्योंकर विदेशियोंसे पद-दलित होते देखता? जबकि उसकी धमनियोंमें रक्त और बाहुओंमें बल था!

उसने आगे बढ़कर सैल्युकसको रोका, तनिक भारतके पानीका जौहर दिखलाया। जो सैल्युकस भारत-विजय करने और सम्राट् बनने आया था, वह मैदानसे भाग खड़ा हुआ। भारत-विजयका स्वप्न तो भङ्ग हुआ ही ब्याजमें अपनी कन्या चन्द्रगुप्तसे ब्याहनी पड़ी और काबुल, कान्धार, बिलोचिस्तान जैसे प्रदेश भी पराजय स्वरूप देने पड़े। भारतको दासताके पाशसे पहले-पहल मुक्तकर जैन-कुलोत्पन्न चन्द्रगुप्तने जैनोंकी गौरव-गाथाकी अमिट छाप लगादी, जिसे आज भी पराधीन भारतीय बड़े गौरव के साथ सुनते और कहते हैं।

— २ —

मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनने भारतको दासताके पापसे मुक्त करके एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करके और अभूतपूर्व शासन-व्यवस्थाकी नींव डालकर जो शानदार उदाहरण उपस्थित किया है, उसपर हज़ारों ग्रन्थ लिखे जानेपर भी लेखकोंको अभी सन्तोष नहीं है।

चन्द्रगुप्तके बाद बिन्दुसार, अशोक, सम्प्रति आदि मौर्य सम्राटोंने उत्तरोत्तर भारतमें शासनकी सुव्यवस्थाकी! यह मौर्यवंश जैनधर्मानुयायी थ। केवल अशोकने और उसके पुत्रने व्यक्तिगत बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था वैसे मौर्य राज्य घराना जैन धर्मानुयायी था। अशोकके पौत्र सम्प्रतिने अपने शासनकालमें जैनधर्मके प्रचारका बहुत अधिक उद्योग किया। यहाँ तक कि काबुल, कान्धार और बिलोचिस्तान जैसे बर्बर प्रदेशोंमें भी धर्मकी प्रभावना बढ़ानेके लिये जैनसाधुओंके संघ भिजवाए।

मौर्य राजाओंके निरन्तर प्रयत्न करने पर भारत जब सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा था। घर-घरमें मङ्गलाचार होरहे थे। उपद्रवों और सैनिक-प्रदर्शनोंके बजाए धार्मिक महोत्सव होते थे, रथ-यात्राएँ निकलती थीं। भारतीय स्वच्छन्द श्वास लेते थे तभी एक दुर्घटना हुई।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्मका यह प्रचार, शान्तिका यह साम्राज्य जैनधर्मद्वेषी मौर्य सेनापति पुष्यमित्रसे न देखा गया उसने विश्वासघात करके धोखेसे मौर्य सम्राट् वृहद्रथको मार डाला और स्वयं सम्राट् बन बैठा[1]।

इस पुष्यमित्रने अपने शासनकालमें बौद्धों और जैनोंपर वह-वह क़हर ढाये, अत्याचार किये, जो महमूद गज़नवी, अलाउद्दीन, तैमूर, औरङ्गज़ेब, नादिरशाहने भी न किये होंगे ?

इसी समय (ई० स० १८४) यवनराज दिमेत्रने भारतपर आक्रमण कर दिया, वह चाहता था कि भारतपर वह स्वयं शासन करे। भारतको पराधीनता के पाशमें बाँधनेका यह दूसरा प्रयत्न था। किन्तु इन्हीं दिनों कलिङ्गका राजा खारवेल जो कि जैन था, द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ रहा था। उसने दिमेत्र और पुष्यमित्र दोनोंके हाथसे भारतके शासन की बागडोर छीन ली। खारवेलने अपने शासनकालमें जो जो लोकोत्तर और वीरता-धीरताके कार्य किये, इसकी साक्षी हाथी गुफामें अङ्कित शिलालेख आज भी दे रहा है[1]।

इस प्रकार दोबार भारतको विदेशियोंकी अधीनतासे जैनसम्राटोंने बचाया। जब जैन साम्राज्य नष्ट कर दिये गये और यहाँ अनेक दूषित वातावरण उत्पन्न होगये, तब भारत मुसलमानों द्वारा विजित कर लिया गया[2]। इस मुस्लिम कालीन भारतमें भी राजपूतानेमें, कर्माशाह, भामाशाह, दयालशाह, आशाशाह, वस्तुपाल, तेजपाल, विमलशाह, भीमसी कोठारी आदिने जो जो वीरता-धीरताके कार्य किये हैं, वे राजपूतानेके कण-कणपर अङ्कित हैं[3]।

---

१ मौर्य राजाओंका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये लेखक की "मौर्यसाम्राज्यके जैनवीर" १७३ पृष्ठकी पुस्तक देखनी चाहिये।

१ इस वीर पराक्रमी सम्राट्का जीवन लेखककी "आर्यकालीन भारत" पुस्तकमें देखिये।

२ भारत परतन्त्र क्यों हुआ ? इसका विस्तार पूर्वक वर्णन लेखककी "आर्यकालीन भारत" पुस्तकमें मिलेगा।

३ इन सब शूरवीरोंका परिचय राजपूतानेके "जैन वीर" पुस्तकमें देखिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शंका-समाधान

१३ शङ्का—दिगम्बर-परम्परा और समस्त दिगम्बर-साहित्यमें भगवान महावीरके बालब्रह्मचारी एवं अविवाहित होनेकी जो मान्यता पाई जाती है वह क्या श्वेताम्बर-परम्परा और श्वेताम्बर-साहित्यमें उपलब्ध होती है ?

१३ समाधान—हाँ, उपलब्ध होती है। विक्रम-की छठी शताब्दीके विद्वान् और बहु सम्मानास्पद एवं विभिन्न निर्युक्तियोंके कर्ता आचार्य भद्रबाहुने अपनी प्रधान और महत्वपूर्ण रचना 'आवश्यक निर्युक्ति'में भगवान महावीरकी उन चार तीर्थंकरोंके साथ परिगणना की है जिन्होंने न राज्य किया और न विवाह किया तथा जो कुमारावस्थामें ही प्रवृजित (दीक्षित) होगये और जिससे यह जाना जाता है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी भद्रबाहु जैसे महान् आचार्य और उनके अनुयायी भगवान महावीरको बाल-ब्रह्मचारी एवं अविवाहित स्वीकार करते थे। यथा—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपूज्जं च ॥
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥
रायकुलेसुऽ वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु ।
न य इत्थिआभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया ॥
—आवश्यक० नि०गा० २२१, २२२

अर्थात् वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पाँच जिनों (तीर्थंकरों) को छोड़कर शेष जिन राजा हुए। तथा उक्त पाँचों जिन विशुद्ध क्षत्रिय राजकुलोंमें उत्पन्न होकर भी स्त्री-सम्बन्धसे रहित रहे और कुमारावस्थामें ही इन्होंने दीक्षा ली।

आचार्य भद्रबाहुका यह सम्मुल्लेख दोनों परम्पराओंके मधुर सम्मेलनमें एक अन्यतम सहायक हो सकता है।

१४ शङ्का—पंच णमोकार मंत्रमें जो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' अन्तिम वाक्य है उसमें 'लोए' और 'सव्व' इन दो पदोंको जो पहलेके चार वाक्यों में भी नहीं हैं, क्यों दिया गया है ? यदि उनका देना वहाँ सार्थक है तो पहले अन्य चार वाक्योंमें भी प्रत्येकमें उन्हें देना चाहिए था ?

१४ समाधान—'लोए' और 'सव्व' ये दोनों पद अन्त दीपक हैं, वे अन्तिम वाक्यमें सम्बन्धित होते हुए पूर्वके अन्य चार वाक्योंमें भी सम्बन्धित होते हैं। मतलब यह कि जिन दीपक पदोंको एक जगहसे दूसरी जगह भी जोड़ा जाता है वे तीन तरह के होते हैं—१ आदि दीपक पद, २ मध्य दीपक पद और ३ अन्त दीपक पद। प्रकृतमें 'लोए' और 'सव्व' पद अंतिम वाक्यमें आनेसे अन्त दीपक पद हैं अतः वे पहले वाक्योंमें भी जुड़ते हैं और इसलिए पूरे नमस्कारमंत्रका अर्थ निम्न प्रकार समझना चाहिए—

१ लोकमें (त्रिकालगत) सर्व अरिहन्तोंको नमस्कार हो।
२ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व सिद्धोंको नमस्कार हो।
३ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व आचार्योंको नमस्कार हो।
४ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व उपाध्यायोंको नमस्कार हो
५ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व साधुओंको नमस्कार हो।

यही वीरसेन स्वामीने अपनी धवला-टीकाकी पहली पुस्तक (पृ० ५२) में कहा है—

'सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोक शब्दावन्त दीपकत्वा दध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादि देवता प्रणमनार्थम्।'

१५ शङ्का—परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला आदि जैनन्यायके ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाणके, जो परोक्ष प्रमाणका एक भेद है, दोसे अधिक भेद बतलाये गये हैं; परन्तु अष्टसहस्री (पृ० २७९)में विद्यानन्द स्वामीने उसके दो ही भेद गिनाये हैं। क्या यह आचार्यमत-भेद है अथवा क्या है ?

१५ समाधान—हाँ, यह आचार्यमतभेद है। आचार्य विद्यानन्दने न केवल अष्टसहस्रीमें ही प्रत्यभिज्ञानके दो भेदोंको गिनाया है अपितु श्लोक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वार्त्तिक और प्रमाणपरीक्षामें भी उसके दो ही भेद स्पष्टतः बतलाये हैं। यथा—

(क) 'तत् द्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्'

—त० श्लो० पृ० १६० ।

(ख) 'द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदमित्येकत्व-निबन्धनं तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च ।'

प्र० प० पृ० ६६ ।

अतः यह एक आचार्यमान्यताभेद ही समझना चाहिए।

१६ शङ्का—जैसा प्रत्यभिज्ञानको लेकर आपने जैनन्यायमें आचार्योंका मान्यताभेद बतलाया है वैसा और भी किसी विषयको लेकर उक्त मान्यताभेद पाया जाता है ?

१६ समाधान—हाँ पाया जाता है—

(क) आचार्य माणिक्यनन्दि और उनके व्याख्याकार आचार्य प्रभाचन्द्र तथा अनन्तवीर्य आदिने हेत्वाभासके चार भेद बतलाये हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर। यथा—'हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः'—परीक्षा ६-२१। पर वादिराजसूरिने उसके तीन ही भेद गिनाये हैं। यथा—

'तत्र त्रिविधो हेत्वाभासः असिद्धानैकान्तिकविरुद्ध-विकल्पात् ।' —प्रमाणनिर्णय पृ० ५० ।

(ख) इसी तरह जहाँ अन्य अनेक आचार्यों ने परोक्षप्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद प्रतिपादन किये हैं वहाँ आचार्य वादिराजने परोक्षके दो ही भेद बतलाये हैं और उन दो भेदोंमें अन्य प्रसिद्ध पाँच भेदोंका स्वरुचि-अनुसार अन्तर्भाव किया है। यथा—

'तच्च (परोक्षं) द्विविधमनुमानमागमश्चेति । अनुमान-मपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात् । तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति । तस्य चानुमानत्वं यथा पूर्वमुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिबन्धनत्वात् ।' प्र. नि. पृ. ३३

इसी तरहके आचार्योंके मान्यताभेद और भी मिल सकते हैं। कहनेका मतलब यह कि जैनसिद्धान्त की तरह जैनन्यायमें भी आचार्योंका मतभेद उपलब्ध होता है और यह मतभेद कोई विरोध उत्पन्न नहीं करता। केवल ग्रन्थकारोंके विवक्षाभेद या दृष्टिभेदको प्रकट करता है।

१७ शङ्का—अतिक्रम और व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इनमें परस्पर क्या अन्तर है ?

१७ समाधान—मानसिक शुद्धिकी हानि होना अतिक्रम है और मनमें विषयाभिलाषा होना व्यतिक्रम है। तथा इन्द्रियोंमें आलस्य (असावधानी)का होना अतिचार है और लिये व्रतको तोड़ देना अनाचार है। यथा—

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः ।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारइह व्रतानाम् ॥

—षट् प्रा० टी० पृ० २६८ (उद्धृत) ।

१८ शङ्का—नरकगतिमें सातवीं पृथिवीमें क्या सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है ?

१८ समाधान—हाँ, सातवीं पृथिवीमें भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि आर्षग्रन्थोंमें नरकगतिमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणोंको निम्न प्रकार बतलाया है:—

'नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिद् जातिस्मरणं । केषांचिद् धर्मश्रवणं । केषांचिद् वेदनाभिभवः । चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्यां नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च ।' —सर्वार्थसि० पृ० १२ ।

'तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वमुपजनयन्ति-केचिज्जातिं स्मृत्वा, केचिद्धर्मं श्रुत्वा, केचिद्वेदनाभिभूताः । अधस्ताच्चतसृषु पृथिवीषु द्वाभ्यां कारणाभ्यां-केचिज्जातिं स्मृत्वा, अपरे वेदनाभिभूताः ।'

—तत्त्वार्थवा पृ० ७२ ।

इन उद्धरणोंमें बतलाया गया है कि नरकगतिमें पहलेकी तीन पृथिवियोंमें तीन कारणोंसे सम्यग्दर्शन होता है—जाति स्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव से। नीचेकी चार पृथिवियोंमें धर्मश्रवणको छोड़कर शेष दो कारणों—जातिस्मरण और वेदनाभिभवसे उत्पन्न होता है। अतएव सातवीं पृथिवीमें दो कारणोंका सद्भाव रहनेसे वहाँ सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। परन्तु निकलते समय वह छूट जाता है।

३-४-४८]　　—दरबारीलाल कोठिया

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

त्यागका वास्तविक रूप

(प्रवक्ता पूज्य श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी, न्यायाचार्य)

[समाजका शायद कोई ही ऐसा व्यक्ति हो जो पूज्य वर्णीजी और उनके महान् व्यक्तित्वसे परिचित न हो। आप उच्चकोटिके विद्वान् होनेके अतिरिक्त सन्त, वक्ता, नेता, चारित्रवान् और प्रकृतिभद्र सहृदय लोकोत्तर महापुरुष हैं। महापुरुषोंके जो लक्षण हैं वे सब आपमें विद्यमान हैं और इसलिये जनता आपको बाबाजी एवं महात्माजी कहती है। आपकी अमृतवाणीमें वह स्वाभाविकता, सरलता और मधुरता रहती है कि जिसका पान करनेके लिये जनता बड़ी ही उत्कण्ठित रहती है और पान करके अपनेको कृतकृत्य मानती है। आज 'अनेकान्त'के पाठकोंके लिये उनके एक महत्वके अनुभवपूर्ण प्रवचनको, जिसे उन्होंने गत भादोंके पर्यूषणपर्वमें त्याग-धर्मके दिन दिया था, और जो अभी कहीं प्रकाशित भी नहीं हुआ, यहाँ दिया जाता है।

हम पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरके अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने वर्णीजीके पर्यूषणपर्वमें हुए प्रवचनोंके समस्त सङ्कलनको, जिसे उन्होंने स्वयं किया है, 'अनेकान्त'के लिये बड़ी उदारतासे दिया। प्रस्तुत प्रवचन उन्हीं प्रवचनोंमेंसे एक है। शेष प्रवचन भी आगे दिये जावेंगे। —कोठिया]

आज त्यागका दिन है। त्याग सबको करना चाहिये। अभी एक स्त्रीने अपने बच्चेको बड़े जोरसे चाँटा दिया। चाँटा देकर उसने अपनी कषायका त्याग कर लिया। आप लोग भी अपनी-अपनी कषायका त्याग कर यदि शान्त होजायें तो अच्छा है।

त्यागका अर्थ छोड़ना होता है पर छोड़ा क्या जाय? जो चीज़ आपकी नहीं है उसे छोड़ दिया जाय। अपने आत्माके सिवाय अन्य सब पदार्थोंमें ममत्व-भावको छोड़ दो, यही त्याग धर्म है।

आज संसारकी बड़ी विकट परिस्थिति है। जिन्होंने अपनी सम्पत्ति छोड़ी, स्त्री छोड़ी, बच्चे छोड़े और एक केवल चार रोटियोंके लिये शरणार्थी बने इधर-उधर भटक रहे हैं। उन लोगोंपर भी दुष्ट प्रहार कर रहे हैं। कैसा हृदय उनका है? कैसा धर्म उनका है? इस समय तो प्रत्येक मनुष्यको स्वयं भूखा और नङ्गा रहकर भी दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। आपके नगरमें यदि शरणार्थी आवें तो प्राणपनसे उनका उद्धार करो। मानवमात्र की सेवा करना प्रत्येक प्राणीका कर्त्तव्य है। आप लोग अच्छे अच्छे वस्त्र पहिनें, अच्छा-अच्छा भोजन करें पर तुम्हारा पड़ौसी नङ्गा और भूखा फिरे तो तुम्हारे धनको एकबार नहीं सौबार धिक्कार है। अब समय ऐसा है कि सुवर्णके जेवर और जरीके कपड़े पहिनना बन्द कर देना चाहिये और सादी वेशभूषा तथा सादा खानपान रखकर दुःखी प्राणियोंका उपकार करना चाहिये।

एकबार ईश्वरचन्द्र विद्यासागरकी माँ बनारस आई। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको कौन नहीं जानता? कलकत्ता विश्वविद्यालयका प्रिंसिपल, हरएक ऊँचेसे ऊँचे ऑफिसरसे उनकी पहिचान—मेलजोल। एक बार किसी ऊँचे ऑफिसरसे उनका मनमुटाव होगया। लोगोंने कहा कि वह उच्च अधिकारी है अतः उससे विरोध करना ठीक नहीं; पर ईश्वरचन्द्रने कड़ा जवाब दिया कि मैं अपने स्वाभिमानको नष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करके किसीको प्रसन्न नहीं रखना चाहता। दो दिनमें एक दिन तो खाना मिलेगा, दो जूनमें एक जून तो मिलेगा, अच्छे कपड़े न सही, सादा खद्दर तो मिलेगा; पर मैं स्वाभिमानको नष्ट नहीं कर सकता। हाँ, तो उनकी माँ बनारस आई। अच्छे-अच्छे आदमी उनसे मिलने गये। उनके शरीरपर एक सफेद धोती थी। हाथमें एक कड़ा भी नहीं था, लोगोंने कहा—माँ जी! आप इतने बड़े पुरुषकी माँ होकर भी इस प्रकार रहती हैं। उन्होंने जवाब दिया—क्या हाथोंकी शोभा सोना और चाँदीके द्वारा ही होती है; नहीं, इन होथोंकी शोभा गरीबकी सेवासे होती है। भूखेको रोटी बनाकर खिलानेसे होती है। लोग उनका उत्तर सुनकर चुप रह गये। वास्तविक बात यही है। पर हम लोग अपना कर्त्तव्य भूल गये। हम केवल अपने आपको सुखी देखना चाहते हैं। दूसरा चाहे भाड़में जाय, पर ऐसा करनेका विधान जैनधर्ममें नहीं है। जैनधर्म महान् उपकारी धर्म है। वह एक-एक कीड़ी तककी रक्षा करनेका उपदेश देता है फिर मनुष्योंकी उपेक्षा कैसे कर देगा?

हैदराबादकी बात है। वहाँ एकबार अकाल पड़ा। लोग दुःखी होने लगे। मन्त्री चण्डूप्रसादको जब इस बातका पता लगा कि हमारी प्रजा दुःखी होरही है। उसने खजाना खुलवा दिया और सब लोगोंको यथावश्यक बाँट दिया। ईर्ष्यालु लोगोंने राजासे शिकायत की कि इसने सब खजाना लुटवा दिया, बिना खजानेके राज्यका कार्य कैसे चलेगा? राजाने भी उसे अपराधी मान लिया। तोपके सामने उसे खड़ा किया गया तीन बार तोप दागी गई पर एक बार भी नहीं चली। सब उसके पुण्य प्रभावको देखकर दङ्ग रह गये। कुछ समय बाद पानी बरस गया। लोगोंका कष्ट दूर होगया। खजानेसे जो जितना लेगया था सबने उससे दूना-दूना लाकर खजाना भर दिया। जब खजाना भर चुका तब मन्त्री अपना पद छोड़कर साधु होगया। यह तो रही तवारीखकी बात। मैं आपको आपके प्रान्तकी अभी चार साल पहलेकी बात सुनाता हूँ।

देवरानमें[1] लम्बू सिंघई था। अपने प्रान्तका भला आदमी था। पानी नहीं बरसा जिससे लोग दुखी होगये। गाँवके लोगोंने विचार किया कि इसके पास खूब अनाज रखा है। लूट लिया जाय। जब लम्पूको पता चला तब उसने अपना सब अनाज बाहर निकलवाया और लोगोंको बुलाकर कहा कि लूटनेकी क्या आवश्यकता है। तुम लोग ले जाओ बाँट लो। उसने, किसने कितना लिया, यह लिखा भी नहीं। उन्हीं लोगोंमेंसे किसीने अपना कर्त्तव्य समझकर लिख लिया। अनाजके सिवाय उसने हज़ार दो हज़ार नकद भी बाँट दिये। भाग्यवश पानी बरस गया। लोगोंका सङ्कट दूर होगया। सबने सवाया लाकर बिना माँगे दे दिया। यदि आप दूसरेके दुःखमें सहानुभूति दिखलाएँ तो वह सदाके लिये आपका कृतज्ञ होजाय—वह आपके विरुद्ध कभी बोल न सके।

मड़ावरे[2]की बात है। पातरे सिंघई वहाँ रहते थे। उस ज़मानेके वे लखपती थे। बड़े दयालु थे। वह जमाना अच्छा था। खूब सस्ता था। एक रुपयेका इतना अधिक गल्ला आता था कि आदमी उठा नहीं सकता था। उसी समयकी यह कहावत है कि 'एक बैल दो भइया पीछे लगी लुगैया तोई न पूरो होय रुपैया'। यदि कोई गरीब आदमी उनके पास पूंजीके लिये आता तो उसे वे बड़े प्रेमसे ५०) पचास रुपयेकी पूंजी दे देते थे। उस समय पचास रुपयेकी पूंजीसे घोड़ा भर कपड़ा आजाता था। आज तो चार जोड़ा भी नहीं आवेंगे। और ५०) रुपये उसके परिवारके खानेके लिये अलगसे दे देते थे। उस समय ५०)में एक परिवार साल भर अच्छी तरह खा लेता था। पर आज एक आदमीका एक माहका पूरा खर्च भी ५०)में नहीं होता। वह आदमी साल भर बाद जब रुपये वापिस करने जाता और ब्याजके १२) बारह रुपये बतलाता तो वे ब्याज लेनेसे इन्कार कर देते और जब कोई अधिक आग्रह करता तो

१ यह ओरछा रियासतका एक गांव है।—संपादक।

२ झांसी जिलेका एक कस्बा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१) ले लेते और उसके बदले वायना (मिठाई) आदिके रूपमें उसे दसों रुपयेका सामान दे देते थे। सह-धर्मियोंसे वात्सल्य रखने वाले ऐसे पुरुष पहले होते थे। पर आजके मनुष्य तो चाहते हैं हमारा घर ही धनसे भर जावे और दूसरे दाने-दानेके लिये फिरें। इन विचारोंके रहते हुए भी क्या आप अपनेको जैनी कहते हो ?

धन इच्छा करनेसे नहीं मिलता। यदि भाग्य होता है तो न जाने कहाँसे सम्पत्ति आ टपकती है मैं मडावरेका हूँ। मेरा एक साथी था—परसादी। परसादी ब्राह्मणका लड़का था। हम दोनों एक साथ चौथी क्लासमें पढ़ते थे। परसादीके बापको ८) पेंशन मिलती थी और १०००) एक हजार उसके पास नकद थे। वह इतना अधिक कंजूस था कि कभी परसादी एक आध पैसेका अमरूद खाले तो वह उसे बुरी तरह पीटता था। बापके बर्तावसे लड़का बड़ा दुखी रहता था। अचानक उसका बाप मर गया। बापके मरनेके बाद लड़केने खूब खाना पीना शुरू कर दिया। बापकी जायदादको मिटाने लगा। मैंने उसे समझाया—परसादी ! अनाप-शनाप खर्च क्यों करता है ? पीछे दुःखी होगा। वह बोला, बड़े भाग्यसे बाप मरा तो भी न खावें-पीवें। भैया ! उसने एक सालमें ही एक हजार मिटा दिये। मैंने कहा, परसादी अब क्या करोगे ? वह बोला, भाग्यमें होगा तो और भी मिलेगा। मेरे भाग्यसे कोई महन्त मरेगा उसकी जायदाद मैं भोगूंगा। ऐसा ही हुआ। वह वहाँसे मालवा चला गया। देखनेमें सुन्दर था ही, किसी महन्तकी सेवा खुशामद करने लगा। महन्त प्रसन्न होगया और जब मरने लगा तब लिख गया कि मेरा उत्तराधिकारी परसादी होवे। क्या था ? अब वह लखपति बन गया। हाथी, घोड़े आदि महन्तोंका क्या वैभव होता है सो आप लोग जानते ही हैं। मैं इलाहाबादमें पण्डित ठाकुरदासजीके पास पढ़ता था। वह भी एक वक्त गङ्गास्नानके लिये इलाहाबाद गया। मैं पुस्तक लेकर पण्डितजीके पास पढ़ने जारहा था, वह भी एक हाथीपर बैठा बड़े ठाटबाटके साथ जारहा था। मेरा ध्यान तो उस ओर नहीं गया, पर उसने मुझे देख लिया और हाथी खड़ाकर मुझसे बोला ? मुझे पहचानते हो मैंने कहा अरे परसादी ! उसने अपना किस्सा सुनाते हुए कहा, कि तुम तो कहते थे कि अब क्या करोगे ? मैं अब मालवाका महन्त हूँ। दस-पाँच लाखकी जायदाद है।

सो भैया ! जिसको सम्पत्ति मिलनी होती है सो अनायास मिल जाती है। व्यर्थकी चिन्तामें रात दिन पड़े रहना अच्छा नहीं।

जब बाईजीको मरनेके १० दिन रह गये तब लम्पूने उनसे कहा, बाईजी ! कुछ चिन्ता तो नहीं है। उन्होंने कहा, नहीं है। लम्पूने कहा, छिपाती क्यों हो ? वर्णीजीकी चिन्ता नहीं है। उन्होंने कहा, पहले थी; अब नहीं है। पहले तो विकल्प था कि हमने इसे पुत्रसे भी कहीं अधिक पाला, इसलिये मोह था कि यदि यह दो-चार हजार रुपये किसी तरह बचा लेता तो इसके काम आते। पर मैंने इसके कार्योंसे देखा कि यह एक भी पैसा नहीं बचा सकता। मैंने यह सोचकर संतोषकर लिया है कि लड़का भाग्यवान है। जिस प्रकार मैं इसे मिल गई ऐसा ही कोई उल्लू और मिल जायेगा।

मैं एक बार अहमदाबाद कांग्रेसको गया। पं० मुन्नालालजी, राजधरलाल वरया तथा एक दो सज्जन और भी साथ थे। अहमदाबादमें एक मारवाड़ीने नेवता किया। पूरी, खीर आदि सब सामान उसने बनवाया। मुझे ज्वर आता था, इसलिये पहले तो मैंने खीर नहीं ली। पर जब दूसरोंको खाते देखा और उसकी सुगन्धि फैली तो मैंने भी ले ली और खूब खाली। एक घण्टे बाद मुझे ज्वर आगया। इच्छा थी कि इतनी दूर तक आया तो गिरनारजीके दर्शन और कर आऊँ। शामको गाड़ीमें सवार हुआ। मेरे पैरोंमें खूब दर्द हो रहा था। पर संकोच था, इसलिये किसीसे यह कहते न बना कि कुछ दबा दो। रातको एक पूनाका वकील हमारे पास आया। कुछ देर तो चर्चा करता रहा पर बादमें मेरे सो जानेपर वह वहीं बैठा रहा। न जाने उसके मनमें क्या आया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह मेरे पैर दाबने लगा और रातके ३ बजे तक दाबता रहा। तीन बजे बोला—पण्डितजी, उठिये आपको यहाँ गाड़ी बदलनी है।

हम लोग धनकी चिन्तामें रात दिन व्यग्र होरहे हैं पर व्यग्र होनेमें क्या धरा ? धन रखते हो तो उसकी रक्षाके लिये तैयार रहो। लोग कहते हैं कि दूसरे लोग भीतर ही भीतर पहलेसे तैयारी करते रहे। अरे ! तुम्हारे दादाको किसने रोक दिया था ? जैन धर्म यह कब बतलाता है कि तुम नपुंसक बनकर रहो। लोग कहते हैं कि जैनधर्मने भारतको गारत कर दिया। अरे ! जैनधर्मने भारतको गारत नहीं कर दिया। जबसे लोगोंने जैनधर्म छोड़ा तबसे गारत हो गये। जैनधर्म तो प्राणीमात्रका उपकार चाहता है वह किसीका भी बुरा नहीं सोचता। वहाँ तो यही उपदेश है 'सर्वे सन्तु निरामयाः' सब निरामय नीरोग रहें। 'क्षेम सर्वप्रजानां' सारी प्रजाका कल्याण हो। जैन-तीर्थकरोंने छह खण्डकी पृथिवीका राज्य किया, सो क्या कायर बनकर किया ? नपुंसक बनकर किया ? नहीं, जैनके समान तो कोई वीर हो नहीं सकता। उसे कोई घानीमें पेल दे तो भी अपने आत्मासे च्युत नहीं होता। जिन तो एक आत्मा विशेषका नाम है। जिसने रागादि शत्रुओंको जीत लिया वह जिन है। उसने जिस धर्मका उपदेश दिया वह जैनधर्म है। इसे कायरोंका धर्म कौन कह सकता है ?

आज त्याग-धर्म है। मैं धनके त्यागका उपदेश नहीं देता। और मेरी समझमें जो धनके त्यागका उपदेश देता है वह वक्ता बेवकूफ है। धन तुम्हारा है ही कहाँ ? वह तो स्पष्ट जुदा पदार्थ है। यह चादर जो मेरे शरीरपर है न मेरी है न मेरे बापकी है और न मेरी सात पेरीकी है। वह द्रव्य दूसरा है और मैं द्रव्य दूसरा। एक द्रव्यका चतुष्टय जुदा, दूसरे द्रव्यका चतुष्टय जुदा। आप पदार्थको जानते हैं। क्या पदार्थ आपमें आजाता है ? आप पेड़ा खाते हैं, मीठा लगता है क्या मीठा रस आपके आत्मामें घुस जाता है ? औरत बड़ी सफाईके साथ रोटी बनाती है क्या उसके हाथ या उसकी अङ्गुलियाँ रोटीरूप होजाती हैं ? कुम्हार मिट्टीका घड़ा बनाता है क्या उसके हाथ-पैर आदि घड़ारूप होजाते हैं ? नहीं, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। जब दूसरा द्रव्य हमारा है ही नहीं तब उसका त्याग करना कैसा ? यहाँ त्यागसे अर्थ है पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धिका छोड़ना। धनका जोड़ना बुरा नहीं। आपके पास जितना धन है उससे चौगुना अपनी तिजोरियोंमें भरलो पर उसमें जो आत्मबुद्धि है उसे छोड़ दो। जब तक हम किसीको अपना समझते रहेंगे तब तक उसके सुख-दुःखके कारणोंसे हम सुखी-दुःखी होते रहेंगे। यह नरेन्द्र बैठा है इसे यदि हम अपना मानेंगे तो इसपर आपत्ति आनेपर हम स्वयं दुःखी हो उठेंगे। इसीलिये तो आचार्य कहते हैं कि आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थको अपना नहीं समझो। जिस समय आत्मामें ही आत्मबुद्धि रह जायगी उसी समय आप सुखी हो सकेंगे, यह निश्चय है।

जैनधर्मका उपदेश मोह घटानेके लिये ही है। आपके त्यागसे किसी पदार्थका त्याग नहीं हो सकता त्याग करके आप उस पदार्थकी सत्ता दुनियासे मिटा देनेमें समर्थ नहीं हैं। आप क्या कोई भी समर्थ नहीं है। उससे केवल मोह ही छोड़ा जा सकता है। जब तक अपने हृदयमें मोह रहता है तब तक ही इस परिग्रहकी चिन्ता रहती है। मोह निकल जानेपर कोई भी इसे लेजाओ, इसका कुछ भी होता रहे, इसका विकल्प रञ्चमात्र भी नहीं होता। कल आपने वज्रदन्त चक्रवर्तीका कथानक सुना था। जब उसका मोह दूर हुआ तब उसके मनमें यह विकल्प नहीं आया कि हमारे इस विशाल राज्यको कौन सँभालेगा ? लड़कोंको राज्य देना चाहा, पर जब उन्होंने लेनेसे इंकार कर दिया तब अनुन्धरीके छह माहके पुंडरीक-को राज्य देकर जङ्गलमें चला गया। निर्मोह दशाका कितना अच्छा उदाहरण है। चक्रवर्तीके दीक्षा लेनेके बाद उनकी स्त्री लक्ष्मीमती अपने जमाई वज्रजंघको जो कि भगवान आदिनाथके जीव थे, पत्र लिखती है कि 'पति और पुत्र सभी साधु होगये हैं। जिसपर

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

२५४६ वर्ष बाद
जय स्याद्वाद

[ले०—प्रो० गोरावाला खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य]

"दृष्टेष्टाविरोधत[redacted]दः ।" (स्वामी समन्तभद्र)

उन्नति नहीं अवनति

भगवान् महावीरकी २५४७वीं जन्म-जयन्ती मनानेका विचार करते ही उन परिस्थितियोंका अनायास स्मरण हो आता है जिनका प्रतीकार करके लिच्छविकुमार सन्मतिने अनादि मार्गका प्रकाश किया था और अपनी तीर्थंकर संज्ञाको सार्थक बनाया था। चिर अतीतका ध्यान निकटतम वर्तमान पर दृष्टि डालनेके लिये लुभाता है। आधुनिक आविष्कार तथा ऐहिक सुख साधनकी अनियन्त्रित सामग्री क्षण भरके लिये शिरको ऊँचा और सीनेको तना कर देती है। अपनेको पूर्वजोंसे सभ्यतर मानने वाला यह मनुष्य कह ही उठता है कि ये ढाई हज़ार वर्ष व्यर्थ नहीं गये हैं। हमने आशातीत उन्नति की है। जहाँ अमेरिकाने उत्पादनकी समस्याको सुलझा दिया है, वहीं रूसने वितरणरीतिको सम कर दिया है। एक ओर यदि हिटलर और मुसोलिनीने हिंसाका ही डङ्का पीटा था तो दूसरी ओर युगपुरुष, मूर्तिमान-भारत, प्रियदर्शी गाँधीजीने अहिंसाकी शीतल मन्द सुगन्ध मलयानिलका प्रवाह किया था। यदि अमेरिका, रूस तथा अँग्रेज़ोंकी विजयको पशुबलकी सर्वोपरि जीत कहा जाय, तो सत्य और अहिंसाके बलपर प्राप्त सक्रिय तथा निष्क्रिय भारतकी दो भागों में विभक्त स्वतन्त्रता भी नैतिक बलकी अभूतपूर्व विजय है। आज समयकी तराजूके एक पलड़ेपर अमेरिकाका अणुबम है और दूसरेपर गाँधीजीकी अहिंसामय नीति। अनायास ही ऐसा प्रतीत होता है कि हम उस युगसे जारहे हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु संभवतः विकासकी चरमसीमा तक पहुँच चुकी है। किन्तु वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। क्या आज दृष्टिभेदके कारण व्यक्ति-भेद और राष्ट्र-वैमनस्य नहीं है? क्या अहिंसा पूज्य गाँधीजीको गोली मार मनुष्यकी हिंस्रवृत्ति-नारकीयतासे भी नीचे नहीं चली गई है? निःशस्त्रीकरणका राग अलापते-अलापते क्या मनुष्य ने महामारू-अस्त्र अणुबम नहीं बना डाला है? क्या धर्मके नामपर हिंसा, चोरी, झूठ, अकल्पित व्यभिचार तथा संचयका ताण्डव नहीं होरहा है? सच तो यह है कि मनुष्यने ये ढाई हज़ार वर्ष संकल्प पूर्वक अपनी अवनति और उन सब आदर्शोंका

राज्यका भार आया है वह छोटासा बालक है। प्रभावशाली शासकके न होनेसे राज्यमें अराजकता मच रही है। आप आइये।' वह प्रकरण बाँचकर आँखोंमें आँसू आजाते हैं। कहाँ छह खण्डके अधिपति चक्रवर्तीकी रानी और कहाँ रक्षाके लिये दूसरे को पत्र लिखती है? कल जो रक्षक थी वह आज रक्षाके लिये दूसरोंका मुँह ताकती है। भैया! यही तो संसार है, संसारका स्वरूप ऐसा ही है।

त्याग करनेसे कोई कहे कि हमारी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है सो आज तक ऐसे उदाहरण देखनेमें नहीं आये कि कोई दान देकर दरिद्र हुआ हो।

जब वसन्त याचक भये दीने तरु मिल पात।
इससे नव पल्लव भये दिया व्यर्थ नहिं जात॥

एक कविकी यह कितनी सुन्दर उक्ति है। जब वसन्त याचक होता है तब वृक्ष पतझड़ बन जाते हैं—अपने-अपने पत्ते दे डालते हैं। यही कारण है कि उनमें नये-नये पत्ते पैदा होजाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मटियामेंट करनेमें लगाये हैं जिनकी शिक्षा भगवान महावीरने दी थी। इसीलिये बर्नार्डशा जैसे व्यक्ति की आँखें वर्तमान सभ्यताके गाढ़ अन्धकारको चीरती हुई वीर प्रभुके उपदेशपर ठिठककर रह गई हैं। क्योंकि रूस-अमेरिकाकी प्रतियोगिता, तानाशाही के जन्मकी आशङ्का, और मुसलिम-अमुसलिम अकारण वैमनस्यका विकार आदिका अन्त शोषित और शोषक द्वन्द्वका विनाश तथा नैतिकताका पुनरुद्धार उसी प्रणालीसे संभव है जिसमें "दृष्ट और इष्टका विरोध नहीं है" जैसा कि वीरप्रभुने कहा था।

राजनैतिक अस्याद्वाद

विगत विश्व युद्धके घावोंपर अभी पट्टी भी नहीं बँध पाई है। कुपथगामी वीर जर्मन-राष्ट्र समता, स्वतन्त्रता और स्वजनताके हामी राष्ट्रके पैरोंके तले कराह रहा है। वर्षों बीत गये पर कोई अन्तिम संधि नहीं हो सकी है। यह सब होते हुये भी तीसरे विश्व युद्धकी तैयारी होने लगी है। खुले आम अमेरिका और रूसने अपने दल बनाने प्रारम्भ कर दिये हैं। दोनों दलोंकी इस वृत्तिने वर्तमान (दृष्ट) की प्रगतिको ही नहीं रोक दिया है अपितु भविष्यकी संभावना (इष्ट)को भी अन्धकाराच्छन्न कर दिया है। मोटे रूपसे देखनेपर कोई ऐसा कारण सामने नहीं आता जो रूस और अमेरिकाके मनोमालिन्यके औचित्यको सिद्ध कर सके। तथोक्त जाग्रत राजनीतिज्ञ कहते हैं कि साम्यवादी रूस पूंजीवादी अमेरिकाके प्रसारकी कैसे उपेक्षा करे? किन्तु दोनों देशोंके जन तथा शासनका पर्यवेक्षण करनेपर कोई ऐसी भलाई या बुराई नहीं मिलती जो एकमें ही हो, दूसरेमें बिल्कुल न हो। दोनों देश उत्पादन, संचय तथा वितरणको खूब बढ़ा रहे हैं। यदि एक व्यक्तिगत रूपसे तो दूसरा समष्टिगत रूपसे। दोनों देशोंका आदर्श भौतिक (जड़) भोगोपभोग सामग्रीका चरम विकास है। अपने दलके लोगों, राष्ट्रोंकी धन-जनसे सहायता में कोई नहीं चूक रहा है। साधन, साध्य और फल-की एकतामें दृष्टि या 'वाद' भेदकी हल्कीसी छाया भी नहीं दीखती है। तथापि पग-पगपर 'दृष्टि' या 'वाद' भेदकी दुहाई दी जाती है। और एक दूसरेको अपना घातक शत्रु मान बैठा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कल्पित दृष्टिभेद ही विश्वके वर्तमानको प्रत्यक्ष रूपसे बिगाड़े हुये है और पाप तथा दुखःमय भविष्यकी कल्पना करा रहा है। जब कि साम्यवाद तथा जनतन्त्रवादके मूढ़ग्राहको छोड़कर अमेरिका-रूस विश्वको शान्ति, सुख और सदाचारकी ओर सरलता से ले जा सकते हैं। यह तभी सम्भव है, जब हम स्याद्वाद या बौद्धिक अहिंसा, या सब दृष्टियोंसे विचारना अथवा उदारदृष्टिसे काम लें जो प्रत्यक्ष ही संघर्ष और अशान्तिसे बचाता है तथा मैत्री और प्रमोदपूर्ण भविष्यकी कल्पना कराता है।

धार्मिक अस्याद्वाद

जहाँ राजनैतिक विचार सहिष्णुतासे वर्तमान विश्वमें मध्य-पश्चिमी योरुप, अमेरिका, चीन, बर्मा आदिकी समस्याएँ सरलतासे सुलझ सकती हैं, वहीं धार्मिक विचार सहिष्णुता द्वारा मुसलिम तथा अमुसलिम राष्ट्रोंके बीच चलने वाला संघर्ष भी शान्त हो सकता है। सन् १९२४ के बादसे धार्मिकता या साम्प्रदायिकताके नामपर भारतमें जो हुआ है, उससे साधारणतया साम्प्रदायिकता और विशेष रूपसे इस्लामकी ओरसे की गई इतिहास-सिद्ध आक्रमकता और वर्वरताकी पुष्टि तो होती ही है, साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो गया है कि इस धार्मिक उन्मादसे किसी भी धर्म या सम्प्रदायका वास्तविक प्रचार और प्रसार हो ही नहीं सकता। यदि इसके द्वारा कुछ हुआ है तो वह है सामाजिक मर्यादाओंका लोप और अनैतिकताका अनियन्त्रित प्रचार।

अतीतको भूलकर यदि १५ अगस्त सन् ४६ के बादके भारतपर ही दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि 'साक्षात् क्रिया' माने मारकाट, चोरी, डकैती, अप-हरण तथा नारकीय व्यभिचार; मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवकसङ्घ माने देशद्रोह और मानवताकी फाँसी। इस प्रकार धर्म और सम्प्रदायके नामपर इधर डेढ़ वर्षमें जो हुआ है, उस ने भारतकी सनातन विरासत नैतिकताकी नींवको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा खोद डाला है कि हमारा सामाजिक वर्तमान (दृष्ट) ही विरूप और नष्ट नहीं हुआ है अपितु सुभविष्यको कल्पना (इष्ट) भी अत्यन्त अस्पष्ट और निराशाजनक होगई है। यह सब हुआ धर्मके नशेके कारण, धर्मके कारण नहीं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि अमुसलिम धर्मोंने भारतमें इस्लाम या उसकी संस्थापर कभी आक्रमण नहीं किया है। इतना ही नहीं, मुसलिम आक्रमणके बादसे ही सब प्रकारसे मुसलमानों द्वारा सताये जानेपर भी अमुसलिम भारतने उन दुर्घटनाओंको भुला ही दिया है। यही अवस्था प्राचीन भारतीय सम्प्रदायों और धर्मों के पारस्परिक कलह और दमनकी हुई है। तथापि मनुष्यमें इतना विवेक नहीं जागा कि धर्म "जीव उद्धार" की कला है। जिसे जहाँ विशुद्धि मिले, उसे वहीं स्वतन्त्रता पूर्वक रहने दिया जाय। क्योंकि जो सत्य रूपसे किसी भी धर्मको मानते हैं, वे कभी आपसमें नहीं लड़ते। फलत: न इस्लाम खतरेमें है और न हिन्दू या यहूदी धर्म ही विश्वको स्वर्ग बना सकता है। अत: मनुष्यको अपने आप अपनी दृष्टि बनाने, ज्ञान प्राप्त करने और आचरण करनेकी स्वतन्त्रता होनी ही चाहिये। भगवान महावीरके इस समन्भद्र धर्मके द्वारा ही हम भारत तथा फिलिस्तीन आदि देशोंकी तथोक्त धार्मिक गुत्थियाँ सरलतासे सुलझा सकते हैं।

सामाजिक अस्याद्वाद

धार्मिक असहिष्णुताकी राक्षसी सन्तानका ही नाम सामाजिक अनाचार या अस्याद्वाद है। आधुनिक युगके "वाद" या धर्मके पक्षपातने अनगिनती हानियाँ और अत्याचार किये हैं। किन्तु उन सबका सम्राट तो वह वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य कुकृत्योंको आज नि:संकोच भावसे कर रहा है जिनके करनेकी शायद उसने कल्पना भी न की होगी। मुसलिमलीगने भारतकी अनेक हानियाँ की हैं, उनमें घातक तो वह अनाचार है जिससे उत्तेजित होकर अमुसलिम भारतीयोंने भी उसकी पुनरावृत्ति की है। आज मुसलिमके समान ही अमुसलिम भारतीय किसीको छुरा भोंक देता है, आग लगा देता है, दूसरेकी बहू-बेटीको ले भागता है और कभी तथा कहीं भी बलात्कार करता है। हमारे सामाजिक वर्तमान (दृष्ट)की निस्सारता और पतन तो स्पष्ट है किन्तु यदि इन वृत्तियोंका निरोध न हुआ तो भविष्य का अनुमान (दृष्ट) करते ही रोमांच हो आता है, प्राण सिहर उठते हैं। हिंसककी हिंसा, चोरकी चोरी, झूठे को धोखा, व्यभिचारीकी बहिन बेटीके साथ व्यभिचार और पूंजीपतिके विरोधके लिये पूंजीपति बनना ही हमारी नीति और आदर्श होगये हैं—जैसा कि आजके विश्वमें स्पष्ट दिखाई देता है—तो साम्यवाद और समाजवाद, सामन्तशाही और नादिरशाही सभी बदतर सिद्ध होंगे। विध्वंस और पतनकी गति इतनी तेज होगी कि गत ४३ वर्षोंकी अभूतपूर्व वैज्ञानिक विध्वंस-प्रणाली भी उसके सामने वैसी लगेगी, जैसी बुन्देलेकी तलवार आज अणुबमके सामने लगती है। आजका सर्वतोमुख पतन इतना व्यापक है कि कुछ समय और बीतते ही वह स्वभाव मान लिया जायगा। क्योंकि आज बहुजनका जीवन तो शिथिलाचारकी ओर बढ़ ही चुका है। "महाजन को भी असंयत होनेमें अधिक समय न लगेगा और फिर असंयत ही 'पन्थ' या सहज जीवन हो जायगा। आजके विश्वमें किसीको यदि खतरा है तो वह है संस्कृति या मानवताको। चाहे पूंजीवादी अमेरिका हो या समाजवादी रूस, सब ही इस खतरेकी चर्चा करते हैं। किन्तु किसी भी वादके अनुयायिओंका जीवन ऐसा नहीं है जिससे मानवताकी सुरक्षाकी आंशिक भी आशा बँधे।

धर्मनीति

तब क्या यह मान लिया जाय कि मनुष्यका सुधार नहीं ही हो सकता है। तथोक्त वैज्ञानिक प्रतीकार असफल है तब और क्या किया जाय? उत्तर कठिन नहीं है। यदि दो अणुबमोंने जापानका लङ्का-दहन कर दिया तो प्रियदर्शी गाँधीजीने भी तो हिन्दुत्वके कलङ्क—गोली मारने वालेको हाथ जोड़ दिये थे। यह दृष्टि, ज्ञान और आचरण कहाँसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिला ? सत्य और अहिंसासे ही तो ? यों तो भारतीय संस्कृति ही अहिंसा प्रधान है; किन्तु यह भी स्पष्ट है कि इसका मूल स्रोत जैन मार्ग ही रहा है। तथा हमारे युगमें भगवान महावीर। भगवान वीरने ही तो स्पष्ट कहा था कि 'यदि हिंसककी हिंसा न्याय्य मानोगे तो कोई भी इस संसारमें अवध्य नहीं रहेगा मैत्री, प्रमोद, शान्ति और विकास असम्भव हो जायेंगे। यदि झूठको ही नीतिमत्ता मानोगे तो ऐसी नीतिमत्तासे किसीकी भी विपत्ति न टलेगी और संसारमें विश्वास नामकी वस्तु दुर्लभ हो जायगी। यदि धर्म भेद या व्यक्ति भेदके कारण दूसरेकी बहिन बेटीसे कुचेष्टा या बलात्कार करनेमें पुरुषार्थ मानोगे तो वह पुरुषार्थ तुम्हारी बहिन-बेटीकी मर्यादा और लज्जा नष्ट कर देगा। आवश्यकतासे अधिक पैसा संचय करनेमें यदि पाप न समझोगे तो कोई ऐसा पाप नहीं, जिसे करनेमें तुम हिचकोगे।'

सम्भव है, सौ-पचास वर्ष पहिले यह सब धर्मोपदेश सा लगता किन्तु आज तो यह अनिवार्य आवश्यकता है। अन्यथा आक्रांत जर्मनी तथा अन्य योरुपीय राष्ट्र, चीन, फिलिस्तीन, काश्मीर, हैदराबाद और पाकिस्तानमें सहज जीवनकी कल्पना भी संभव न रहेगी। किन्तु दूसरेके प्राण, वचन, धन, शील और आवश्यकताकी रक्षा हम तब ही कर सकते हैं जब हमारी दृष्टि व्यापक हो। जिसे मूढ़ग्राह होगा उससे यह आशा तब तक नहीं की जासकती जब तक उसे अपनी हठसे मुक्ति न मिले तथा उसकी दृष्टि परसहिष्णु न हो जाय। यह तब ही सम्भव है जब मनुष्य प्रत्यक्ष ही विकृत और पतित वर्तमानसे बचे तथा ऐसा कोई काम न करे जो प्रत्यक्ष ही बुरा है अथवा भीषण भविष्यका अनुमापक है। यह स्याद्वाद द्वारा ही सम्भव है क्योंकि इस प्रणालीमें प्रत्येक कल्पनाका विवध और व्यापक दृष्टिसे विचार करना आवश्यक है। तथा हर पहलूसे विचार करते ही बैर और विरोध स्वय काफूर होजाते हैं। अतः आजके राष्ट्र तथा सम्प्रदायगत विरोधोंको दूर करनेकी सामर्थ्य भगवान वीरके स्याद्वादमें ही है इस बौद्धिक अहिंसाके आते वाचनिक और कायिक अहिंसा स्वयं सिद्ध हो जायगी। अतः प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अवाधित स्याद्वाद ही ज्ञेय तथा आचरणीय है।

जैन सन्देशसे।

अपने ही लोगों द्वारा बलि किये गये महापुरुष

१ **सुकरात**—यूनानी दार्शनिक तत्त्ववेत्ता, ईसासे २६६ वर्ष पूर्व जहर द्वारा।

२ **ईसामसीह**—आजसे १६४८ वर्ष पूर्व, यहूदियों द्वारा दी गई शूलीसे।

३ **अब्राहमलिंकन**—अमेरिकाके प्रथम राष्ट्रपति, १४ अप्रैल १८६५में गोली द्वारा।

४ **माइकेल कोलिंस**—आजाद आयलैंडके प्रथम राष्ट्रपति, १६२२में गोली द्वारा।

५ **स्वामीदयानन्द**—आर्यसमाजके संस्थापक, ३० अक्टूबर १८८३में जहर द्वारा।

६ **स्वामीश्रद्धानन्द**—आर्यसमाज और काँग्रेसके नेता, गोली द्वारा।

७ **आंगसान**—स्वतन्त्र बर्माके प्रथम प्रधानमन्त्री, १६ जुलाई १६४७में, पार्लियामेण्ट भवनमें, गोली द्वारा।

८ **अमरसाहित्यकार टोडरमल**—जैनसमाजके महाविद्वान् और साहित्यकार, विक्रम संवत् १८२४ (ई० १७६७)में धर्मान्धतापूर्ण साम्प्रदायिकतासे अभिभूत एक नरेशकी अविचारित आज्ञासे हाथी द्वारा।

९ **ट्राटस्की**—रूसका लेखक और महान् नेता, मेक्सिकोमें घरपर हथौड़े द्वारा।

१० **महात्मा गाँधी**—अहिंसा और मानवताकेपुजारी, भारत तथा विश्वके महानतम मानव, सन्त और नेता, ३० जनवरी १६४८में, दिल्लीके बिड़लाभवनमें, नाथूराम गोडसेकी पिस्तौलकी तीन गोलियोंसे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महामुनि सुकुमाल

(श्री ला० जिनेश्वरप्रसाद जैन)

[इस लेखके लेखक ला० जिनेश्वरप्रसादजी सहारनपुरके उन धार्मिक पुरुषोंमेंसे एक हैं जिनसे सहारनपुरका मस्तक ऊँचा है। आप ज्ञानवानों और चारित्रवानोंका बड़ा आदर किया करते हैं। लाला उदयराम जिनेश्वरप्रसादके नामसे प्रसिद्ध कपड़ेकी फर्मके आप मालिक हैं। अपने व्यापारसे उदासीन-जैसी वृत्ति रखते हुए आप सदा ही धर्मकी ओर यथेष्ट ध्यान रखते हैं। जैनगुरुकुल सहारनपुरके आप जन्मदाता और अधिष्ठाता हैं तथा उसे हजारों रुपये प्रदान कर चुके हैं। हालमें आप सकुटुम्ब पूज्य क्षुल्लक वर्णीजीके दर्शन, वन्दन और उपदेशश्रवणके लिये वरुआसागर गये थे। वहाँपर वर्णीजीको आहार दान देनेका भी आपको सकुटुम्ब सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उधरसे वापिस आकर आपने विचारपूर्वक दर्शन-प्रतिमा ग्रहण की है। हालमें मेरी आपसे भेंट हुई। आपके विचारों, उन्नत धार्मिक भावों और शान्त परिणतिको जानकर बड़ा प्रमोदभाव हुआ। महामुनि सुकुमालके जीवनचरितपरसे आपने जो विचार बनाये उन्हें लेखबद्धरूपमें मुझे सुनाया। सुनकर मेरी तबियत बड़ी प्रसन्न हुई। मेरी प्रेरणापर उसे उन्होंने 'अनेकान्त' में प्रकट करनेके लिये भेजा है। आप यद्यपि लेखक नहीं हैं—सफल व्यापारी धनपति है—फिर भी अपने प्रथम प्रयत्नमें वे इतना सुन्दर लिख सके, यह जानकर पाठक भी प्रसन्न होंगे। आशा है अब आप अपने लिखनेका प्रयत्न बराबर जारी रक्खेंगे। —कोठिया]

आज बैठे-बैठे विचार उत्पन्न हुआ कि वे प्रभु सुकुमाल स्वामी कौन थे? उनकी पूर्वली अवस्था कैसी थी, जिन्होंने इतनी वीरताके साथ कर्म-शृङ्खलाकी कड़ियोंको काटा था?

पूर्व अवस्थामें वे कर्मके प्रेरे पापोदयवश एक महादुर्गन्धा अस्पृश्य कन्याके शरीरमें बन्द इस संसार अटवीमें ही थे, जिसके शरीरसे इतनी दुर्गन्ध आरही थी कि उसको देखकर बहु-मनुष्योंका समुदाय नाकपर वस्त्र रखकर ही उस मार्गसे निकलता था।

उसी समय महान त्यागमूर्ति, ज्ञानस्वरूप, अनेक प्रतिमाधारी, महान तपस्वी एक ऋषि महाराज उसके समीपसे विहार करते हुए निकले, अचानक उनकी दृष्टि उस कन्यापर गई। उन्होंने विचार किया—अरे! यह तो कर्दममें लिपटा हुआ रत्न यहाँ पड़ा है और यह तो निकटभव्य आत्मा है। कर्मोंके चक्करमें फँसी हुई है। उन्होंने शीघ्र ही स्वदृष्टि उस ओर घुमाई और बोले—हे बालिके! तू कौन है? विचार तो सही? पूर्वली दशा तेरी कौन थी? किस पापोदयसे तू इस अवस्थामें अवतरित हुई? विचार और सोच! तेरा कल्याण निकट है, तेरी अवस्था इस महान नारकीय दुःखसे छूटने वाली है, तनिक स्थिरतासे विचार और उपयोग लगा!!

इतना वचन उन महान कल्याणकारी धीर-वीर, ज्ञानी, ऋषीश्वरका सुनकर वह विचारती है—ये कौन हैं? इनकी वाणी परम-सुहावनी मालूम पड़ती है। मुझ दीन-हीनपर क्यों करुणा करते हैं? मेरे तो समीप भी कोई नहीं आता। धन्य, इन वात्सल्यधारी महान् प्रभुको। इतना विचारते-विचारते उसे उसी क्षण पूर्वभवका जाति-स्मरण ज्ञान होता है और वर्तमान दशापर खेद होते-होते युगल नेत्रोंमे अश्रु-धार बह जाती है और वह लालायित दृष्टिसे निर्निमेष उनकी ओर देखती रहती है।

वे महामुनि उसे सम्बोधते हुए शीघ्र कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'हे पुत्री! तू शीघ्र श्रविकाके व्रतोंको धारण कर। तुझे संसारमें परिभ्रमण करते-करते अनन्तकाल बीत गया, तेरी आयु भी अल्प है, जो शीघ्र पूरी होरही है। मुनिराजके करुणा-भरे इन वचनोंको सुनकर वह शीघ्र श्रविकाके व्रतोंको भावसहित धारण करके दृढ़ताके साथ पालन करती हुई मरणको प्राप्त होती है और स्वर्गमें देवपर्य्यायको धारण करती है—स्त्रीलिङ्गका विच्छेद कर देती है। वहाँसे चयकर यही देवपर्य्यायका जीव एक राज सेठानीका पुत्र सुकुमाल कुमार होता है।

देखो, कर्मकी विचित्रगति! कहाँ तो दुर्गन्धयुक्त अस्पृश्य और अछूत कन्या और कहाँ महान् ऋद्धिधारी स्वर्गका देव! फिर कहाँ ये राजभोग, वैभवके ठाठ! जिनके अनेक स्त्रियाँ तथा कोमल शरीर। जिस शरीरमें राई और सरसों भी चुभती हो, जिनके नेत्रोंमेंसे आरतीके दीपकसे भी जल झरने लगे, जिनका महान् कोमल शरीर एक विशेष प्रकारके तंदुल ही चुन-चुनकर भक्षण कर सके। कितनी कोमलता! कितना राजसी-ठाठ! वही सुकमाल कुमार एक दिन इस शरीर, कुटुम्ब और भोगोंको अनर्थकारी समझ संसार और देहसे भयभीत होकर और स्वको निरखकर एक सिंहकी तरह—गर्जना करते हैं और अपनेको सम्बोधते हैं—हे मूर्ख! तूने आज तक इन माता, स्त्री, धन-दौलत आदि भोगोंके चक्करमें पड़कर समस्त जीवन, समस्त काल और समस्त भावनायें व्यर्थ गँवाईं। अब तो चेत! और अपनेको पहचान! तू तो पूर्ण प्रभु है। इस कंटक-पूर्ण मार्गका त्याग कर। इन कर्म-फाँसोंसे निकल। अन्यथा प्रातः-काल होनेपर तू यहाँसे नहीं निकल सकेगा, इसलिये शीघ्रता कर।

यह विचार दृढ करते ही शीघ्रतासे ऊपरली खिड़कीके रास्ते धोती-दुपट्टोंकी कमन्द बनाकर वे धीरे-धीरे नीचे आते हैं। उनका वह महान् कोमल शरीर आज कमन्दकी रगड़ोंको खाता हुआ नीचे आता है और नीचे आनेपर वह पथरीली कंटक-सहित भूमिपर अपने युगल चरणोंको रख देता है। भूमिको छूते ही विशेष कोमलताके कारण उनके चरणोंमेंसे रुधिरकी धार बह निकलती है। पर सुकुमाल इसकी कुछ भी परवाह न करते हुए और वैराग्यभावोंसे ओत-प्रोत होते हुए निर्ग्रन्थ मुनियोंके चरणोंमें जाकर भक्तिपूर्वक वन्दना करके नतमस्तक होकर उनसे विशेष प्रार्थना करते हैं। हे प्रभो! हे कल्याणमूर्ति! हे अनन्तगुणोंके स्वामी! हे पतितोद्धारक! मुझे शीघ्र उबारो। मैं इस संसाररूपी काराग्रहसे निकलकर निज कुटुम्बमें वास करना चाहता हूँ। मैं अब इस संसारसे तप्तायमान हूँ। प्रभो! मैं अब आपके चरणोंमें रहकर इन कर्म-फाँसोंका तार-तार करूँगा। इनको निःसत्त्व करके आपके सदृश बनूंगा। मैं संसार-वनीमें आज तक भ्रमा। हे प्रभो! हे स्वामिन! सिंह होते हुए भी मैं अपनेको भूलकर गधोंकी टोलीमें फँस गया और कुम्हारके डडे, अपनी ही भूलसे अपनी ही मूर्खतासे, आज तक खाता रहा!

हे प्रभो! उबारो! मुझ पतितको उबारो! अब मैं आपके चरणोंमें आया हूँ। मुझे निरखो और अपना सेवक समझ मेरे कल्याण-मार्गकी जननी देव-दुर्लभा श्रीभगवती जिनदीक्षा मुझे प्रदान करो। यही मुझ दासानुदासकी आपसे प्रार्थना है। वे महान् योगी परम वीतरागी, परम वात्सल्य-गुणधारी, धीर-वीर, ऋषिवर अपने युगल नेत्रोंको सुकुमालकी तरफ घुमाते हैं और मधुर-कोमल शब्दों द्वारा कहते हैं—

'हे वत्स! तूने प्रशंसनीय विचार किया। तूने स्वको समझ लिया और यह भी जान लिया कि पूर्वले भवमें तेरी यह आत्मा पूर्ण दुर्गन्धसे युक्त अस्पृश्य (अछूत) कन्याके शरीरमें बन्द थी। अब तूने होश किया। अब ही सही। अब भी तेरी आयु ३ दिवसकी है, इसलिये तीन दिवसमें ही तेरा कल्याण होगा। तू स्थिर हो स्वमें समा जा। यह श्रीभगवती जिनेन्द्र-दीक्षा तेरा कल्याण करेगी'।

ऐसा कहकर वीतरागताके धनी उन परउपकार-निरत निर्ग्रन्थ मुनिराजने सुकुमालको श्रीजिन-दीक्षासे भूषित किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभु सुकुमाल, वे राजर्षि सुकुमाल श्रीभगवती जिनदीक्षासे विभूषित होकर तुरन्त वनको विहार करते हैं और उनके पीछे-पीछे उनके चरणोंसे जो रुधिर बहता आरहा था उसको चाटते हुए उनके पूर्वले भवकी लात खाई हुई भावजका जीव शृगाली और उसके दो बच्चे तीनों वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँपर प्रभु सुकुमाल ध्यान-अवस्थामें—अखंड ध्यानमें निश्चल विराज रहे थे।

प्रभुको शृगाली अपने बच्चों सहित चरणोंकी तरफसे चाटना शुरू कर देती है, चाटते-चाटते वह भक्षण करना आरम्भ कर देती है, उधर दोनों बच्चे भी प्रभुको भक्षण करते हैं। इस तरह वे तीनों हिंस्र जन्तु उन महान मुनि श्रीसुकुमाल स्वामीको तीन दिवस पर्य्यन्त भक्षण करते रहे। भक्षण करते-करते वे प्रभुकी जंघा तक पहुँच गये। उधर प्रभु ध्यानारूढ हैं। ध्यानमें विचारते हैं—मैं तो पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हूं, आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ, चिदानन्द हूँ, नित्य हूँ, निरञ्जन हूँ, शिव हूँ, ज्ञानी हूँ, अखंड हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, स्वयंभू हूँ, आनन्दमयी हूँ, निश्चल हूँ, निजरस्वरूप हूँ, नित्यानन्द हूँ, सत्यस्वरूप हूँ, समयसार हूँ। और यह देह गलनरूप, रोग रूप, नाना आधि-व्याधियोंका घर है। यह मेरी नहीं और न मैं इसका हूँ। कौन कह सकता है कि ऐसे ध्यानमग्न और उच्चतम आत्मीय भावनामें लीन महामुनि सुकुमाल शृगालीके द्वारा खाये जाते हुए दुखी थे। नहीं, नहीं, शृगालीके द्वारा खाये जाते हुए वे महामुनि दुखी नहीं थे, किन्तु उनका आत्मा परम सुखी था। वे तो आत्माकी चैतन्य परिणतिरूप अमृतका पान कर रहे थे। आत्माका सुखानुभव करनेमें वे ऐसे लीन थे कि शरीरपर लक्ष्य ही नहीं था। वे अनन्त सिद्धोंकी पंक्तिमें बैठकर आत्माके आनन्दामृतका उपयोग कर रहे थे।

इस प्रकार ध्यानमें लीन हो प्रभु इस नश्वरदेहसे विदा होकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें विराजमान हो जाते हैं, जहाँसे एक मनुष्य पर्य्याय प्राप्तकरके उसी भवसे मोक्षमें पधारेंगे। धन्य इन महात्मा सुकुमाल स्वामीको। मेरा इन प्रभुवरको बारम्बार नमोस्तु।

ता० २२—४—४८

पं० रामप्रसादजी शास्त्रीका वियोग !

पं० रामप्रसादजी शास्त्री, प्रधान कार्यकर्ता 'ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई' का चैत्र वदी २ रविवार ता० ११ अप्रैलको शाम ५ बजे अचानक स्वर्गवास होगया। आप अर्सेसे अस्वस्थ चल रहे थे। आपके निधनसे समाजकी बड़ी क्षति हुई है। आप बड़े ही मिलनसार थे और वीरसेवामन्दिरको समय-समयपर भवनके अनेक ग्रन्थोंकी प्राप्ती होती रहती थी। आपकी इस असामयिक मृत्युको सुनकर वीरसेवामन्दिर परिवारको बड़ा दुःख तथा अफसोस हुआ। हम दिवङ्गत आत्माके लिये परलोकमें सुख-शान्तिकी कामना करते हुए उनके कुटुम्बीजनोंके प्रति हार्दिक सम्वेदना व्यक्त करते हैं।

—परमानन्द शास्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेठीजीका अन्तिम पत्र

(प्रेषक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय)

[पुराने काग़ज़ात उलटते हुए मुझे स्वर्गीय श्रद्धेय पं० अर्जुनलालजी सेठीका निम्न पत्र फुलिस्कैप आकारके छह पृष्ठोंमें पेंसिलसे लिखा हुआ मिला। यह पत्र जिनको सम्बोधन करके लिखा गया है, उनका नाम और उन सम्बन्धी व्यक्तिगत बातें और कुछ राजनैतिक चर्चाएँ जो अब अप्रासांगिक होगई हैं—छोड़कर पत्र ज्योंका त्यों दिया जा रहा है। पत्रके नीचे उनके दस्तख़त नहीं हैं। हालाँकि समूचा पत्र उन्हींका लिखा हुआ है। मालूम होता है या तो वे स्वयं इस कटे-छटे पत्रको साफ करके भेजना चाहते थे या दूसरेसे प्रतिलिपि कराके भेजना चाहते थे। परन्तु जल्दीमें साफ़ न होनेके कारण वही भेज दिया। सम्भवतया जैनसमाजको लक्ष करके लिखा गया उनका यह अन्तिम पत्र है, ध्यान रहे यह पत्र मुझे नहीं लिखा गया था। पत्र मेरी मार्फत आया था इसलिये उन्हें दिखाकर मैंने अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा था। लिखा जासका तो सेठीजीके संस्मरण भी "अनेकान्त"के किसी अङ्कमें देनेका प्रयत्न करूँगा।—गोयलीय]

अजमेर
१६ जुलाई १९३८

धर्म बन्धु,

संसारके मूलतत्वको अर्हत-केवली कथित अनेकान्त स्वरूपसे विचारा जाय और तदनुसार अभ्याससे उसका अनुभव भी प्राप्त हो तो, स्पष्ट होजाता है कि प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपनी विशेषता रखता है, और वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों ही प्रकारके जीवनमें परिवर्तन स्ववश हो चाहे परवश, अवश्यम्भावी होता है। यह परिवर्तन एकान्तसे निर्दोष श्रेयस्कर ही होगा ऐसा नहीं कहा जासकता। कई अवस्थाओंमें वैयक्तिकरूपसे और कतिपयमें सामूहिक रूपसे परिवर्तन अर्थात् इन्कलाब हित और कल्याणके विरुद्ध अवाञ्छनीय नहीं नहीं—विष फलदायक भी साबित होता है। मानव जातिका समष्टिगत इतिहास इसका साक्षी है। अतः भारतमें परिवर्तन—इन्क़लाबका जो शोर चहुँ ओर मच रहा है और जिसकी गूँज कोने-कोनेमें सुनाई दे रही है, उससे जैनसमाज भी बच नहीं सकता। परन्तु अनेकान्तदृष्टिसे तथा अनेकान्तरूप व्यवहारमें जैन समाजके लिये उक्त परिवर्तन ध्वनिसे उत्पन्न हुआ वाताकाश किस हद तक लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारका हित-साधक होगा, यह एक गहन विचारणीय विषय है। इसी समस्या और आशयको लेकर मैं आपके सम्मुख एक खुली प्रार्थना लेकर उपस्थित होता हूँ और आपका विशेष ध्यान बाल-सुखसे हटाकर अन्तस्तलकी तरफ ले जानेका प्रयास करता हूँ। मुझे आशा है कि मेरे रक्त-माँस रहित शुष्क तन पिंजड़ेके कैदी आत्माकी अन्तर्ध्वनि आपके द्वारा जैनसमाजियोंके बहिरात्मा और अन्तरात्मामें पहुँच जाय जो यथार्थ तत्वदर्शनकी प्रगति और मोक्षसिद्धि में साधक प्रमाणित हो।

आप ही को मैं क्यों लिख रहा हूं, आपसे ही उक्त आशा क्यों होती है, इसका भी कारण है। मेरा जीवनभर जैनसमाज और भारतवर्षके उत्थानमें साधारणतया वाक्शूर वा क़लमशूरकी तरह नहीं गुजरा, मैंने असाधारण आकारके घन-पिण्डमें अपना और अपने हृदय-मन्दिरकी दिव्य तपस्वी-मूर्तियोंका उबलता हुआ रक्त दिया है, जैनों और भारतीयोंके उग्र तपोधन देवोंका प्रत्येक जीवन मार्ग में स्वपर-भेद जनित वासनाओंको भस्मीभूत करके सार्वहितके लक्षसे प्रगतिका क्रियात्मक संचालन किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और कराया है। भारतवर्षीय जैन-शिक्षा-प्रचारक समितिका सङ्गठन स्वर्गीय दयाचन्द्र गोयलीय और उनके वर्गके अन्य सत्यहृदयी कार्यकर्ता—मोती[१], प्रताप[१], मदन[२], प्रकाश[३] की जैसी राजनैतिक आत्मोत्सर्गी चौकड़ियाँ मेरे सामने इस असमर्थ दशामें भी चिर आराध्य-पदपर आसीन हैं; प्रातः-स्मरणीय आदर्श पण्डित-राज गोपालदासजी वरैया, दानवीर सेठ माणिकचन्द्र और महिला-ज्योति मगन बहनके आदिके नेतृत्व-मण्डलका मैं अंगीभूत पुजारी अद्यावधि हूँ और पर्देकी ओटमें उन सबकी सत्ता-वाटिकाका निरन्तर भोगी भी हूँ और योगी भी। कौन किधर कहाँसे यहाँ क्या और वहाँ क्या इत्यादि प्रत्येक प्रश्नके उत्तरमें मेरे लिये तो उक्त दिव्य महा-

१ स्वर्गीय वीर-शहीद मोतीचन्द सेठीजीके शिष्य थे। उन्हें आराके महन्तको वध करनेके अभियोगमें (सन् १९१३)में प्राण दण्ड मिला था। गिरफ़ारीसे पूर्व पकड़े जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी। यदि शिवनारायण द्विवेदी पुलिसकी तलाशी लेनेपर स्वयं ही न बहकता तो पुलिसको लाख सर पटकने पर भी सुराग़ नहीं मिलता। पकड़े जानेसे पूर्व सेठीजी अपने प्रिय शिष्योंके साथ रोज़ानाकी तरह घूमने निकले थे कि मोतीचन्दने प्रश्न किया 'यदि जैनोंको प्राणदण्ड मिले तो वे मृत्युका आलिङ्गन किस प्रकार करें?' बालकके मुँहसे ऐसा वीरोचित किन्तु असामयिक प्रश्न सुनकर पहले तो सेठीजी चौंके, फिर एक साधारण प्रश्न समझकर उत्तर दे दिया। प्रश्नोत्तरके १ घण्टे बाद ही पुलिसने घेरा डालकर गिरफ़ारकर लिया, तब सेठीजी उनकी मृत्युसे वीरोचित जूझनेकी तैयारीका अभिप्राय समझे। ये मोतीचन्द महाराष्ट्र प्रान्तके थे। इनकी मृत्युसे सेठीजीको बहुत आघात पहुँचा था। इनकी स्मृतिस्वरूप सेठीजीने अपनी एक कन्या महाराष्ट्र प्रान्त जैसे सुदूर देशमें ब्याही थी। सेठीजीके इन अमर शहीद शिष्योंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विप्लववादी श्री० शचीन्द्रनाथ सान्यालने "बन्दी-जीवन" द्वितीय भाग पृ० १३७में लिखा है—"जैनधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने कर्तव्यकी खातिर देशके मंङ्गलके लिये सशस्त्र विप्लवका मार्ग पकड़ा था। महन्तके खूनके अपराधमें वे भी जब फाँसीकी कोठरीमें कैद थे, तब उन्होंने भी जीवन-मरणके वैसे ही सन्धिस्थलसे अपने विप्लवके साथियोंके पास जो पत्र भेजा था, उसका सार कुछ ऐसा था—"भाई मरनेसे डरे नहीं, और जीवनकी भी कोई साध नही है; भगवान् जब जहाँ जैसी अवस्थामें रक्खेंगे, वैसी ही अवस्थामें सन्तुष्ट रहेंगे।" इन दो युवकोंमेंसे एकका नाम था मोतीचन्द और दूसरेका नाम था माणिकचंन्द्र या जयचन्द्र। इन सभी विप्लवियोंके मनके तार ऐसे ऊँचे सुरमें बँधे थे जो प्रायः साधु और फकीरोंके बीच ही पाया जाता है।

१ प्रतापसिंह वीर-केसरी ठाकुर केसरसिंहके सुपुत्र और सेठीजीके प्रिय शिष्य थे। सेठीजीके उपदेश परसे ये उस समयके सर्वोच्च क्रान्तिकारी नेता स्वर्गीय रासबिहारी बोसके सम्पर्कमें रहते थे। इनके जाँबाज़ कारनामे और आत्मोत्सर्गकी वीर-गाथा 'चाँद' वगैरहमें प्रकाशित हो चुकी है।

२ मदनमोहन मथुरासे पढ़ने गये थे। इनके पिता सराफा करते थे। सम्पन्न घरानेके थे। सम्भवतः इनकी मृत्यु अचानक ही होगई थी। इनके छोटे भाई भगवानदीन चौरासीमें ११-१४-१५में मेरे साथ पढ़ते रहे हैं, परन्तु मदनमोहनके सम्बन्धमें कोई बात नहीं हुई। बाल्यावस्थाके कारण इस तरहकी बातें करनेका उन दिनों शऊर ही कब था?

३ प्रकाशचन्द सेठीजीके इकलौते पुत्र थे। सेठीजी की नज़रबन्दीके समय यह बालक थे। उनकी अनुपस्थितिमें अपने-परायोंके व्यवहार तथा आपदाओंके अनुभव प्राप्त करके युवा हुए। सेठीजी ५-६ वर्षकी नज़रबन्दीसे छूटकर आये ही थे कि उनकी प्रवास-अवस्थामें ही अकस्मात् मृत्यु होगई। सेठीजीको इससे बहुत आघात पहुँचा। इन्हीं प्रकाशकी स्मृति-स्वरूप इनके बाद जन्म लेने वाले पुत्रका नाम भी उन्होंने प्रकाश ही रक्खा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषोंकी आत्माएँ ही अचूक परीक्षा-कसौटीका काम देती हैं, चाहे उस समयमें और अब जीवोंके परिणाम और लेश्याओंमें जमीन आस्मानका ही अन्तर क्यों न हो गया हो।

सतनामें परिषदका अधिवेशन पहला मौका था तब उल्लेखनीय जैनवीर-प्रमुख श्री...................... के द्वारा आपसे मेरी भेंट हुई थी। मैं कई वर्षोंके उपयुक्त मौनाग्रहव्रतके बाद उक्त अधिवेशनमें शरीक हुआ था। इधर-उधर गत-युक्तके सिंहावलोकनके पश्चात् मैं वहाँ इस नतीजेपर पहुँच चुका था कि आप में सत्य-हृदयता है और अपने सहधर्मी जैनबन्धुओं के प्रति आपका वात्सल्य ऊपरकी झिल्ली नहीं है किन्तु रगोरेशेमें खौलता हुआ खून है परन्तु तारीफ़ यह है कि ठोस काम करता है और बाहर नहीं छलकता। ....

इस तरह मुझे तो दृढ प्रतीत होता है कि आपके सामने यदि मैं जैनसमाजके आधुनिक जीवन-सत्वके सम्बन्धमें मेरी जिन्दगी भरकी सुलझाई हुई गुत्थियों को रख दूँ तो आप उनको असली लिबासमें जरूर रख सकेंगे। अपेक्षा—विचारसे यही निश्चयमें आया।

बन्धुवर,

आपने राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्रके गुटोंमें घुल-घुल कर काम किया है, उसकी रग-रगसे आप वाकिफ़ हो चुके हैं और तजरुबेसे आपको यह स्पष्ट हो चुका है कि हवाका रुख किधरको है। इसीसे परिणाम स्वरूप आपने निर्णय कर लिया कि जैनेतरोंकी ज्ञात वा अज्ञात भक्ष्य-भक्षक प्रतिद्वन्द्विताके मुकाबिलेमें सदियोंके मारे हुए जैनियोंके रग-पट्ठोंमें जीवन-संग्राम और मूल संस्कृतिकी रक्षाकी शक्ति पैदा हो सकती है तो केवल उन्हीं साधनों और उपायोंसे जो दूसरे लोग कर रहे हैं अथवा जिनमें बहुत कुछ सफलता जैनोंके सहयोगसे मिलती है। ....

आपके सामने आधुनिक काल-प्रवाहके भिन्न-भिन्न आन्दोलन समूह धार्मिक वा सामाजिक, वाञ्छनीय वा अवाञ्छनीय, हेय वा उपादेय, उपेक्षणीय वा अनुपेक्षणीय, आदरणीय वा तिरस्कार्य, व्यवहार्य वा अव्यवहार्य, लाभप्रद वा हानिकर इत्यादि अनेक रूप-रूपान्तरमें मौजूद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओंका गृहस्थ तथा त्यागी, श्रावक-श्राविकाओंके दैनिक जीवनपर एवं मन्दिर-तीर्थों अथवा अन्य प्रकारकी नूतन और पुरातन संस्थाओंपर पड़ा है, वह भी आपके सम्मुख है। मैं तो प्रायः सबमें होकर गुजर चुका हूँ, और उनके कतिपय कड़वे फल भी खूब चाख चुका हूँ और चाख रहा हूँ। अतः आपका और आपके सहकारी कार्य-कर्ताओंका विशेष निर्णायक लक्ष इस आर अनिवार्य-अटल होना चाहिये। नहीं तो जैन सङ्गठन और जैनत्वकी रक्षाके समीचीन ध्येयमें केवल बाधाएँ ही नहीं आएँगी, धक्का ही नहीं लगेंगे, प्रत्युत नामो-निशान मिटा देने वाली प्रलय भी होजाय तो मानव-जातिके भयावह उथल-पुथलके इतिहासको देखते हुए कोई असम्भव बात नहीं है। अल्पसंख्यक जातियोंको पैर फूंक-फूंककर चलना होता है और बहुसंख्यक जातियोंके बहुतसे आन्दोलन जो उन्हींको उपयोगी होते हैं, अल्पसंख्यकोंमें घुस जाते हैं और उनके लिये कारक होनेकी अपेक्षा मारकका काम देते हैं। उनकी बाहरी चमक लुभावनी होती है, कई हालतोंमें तो आँखोंमें चकाचौंध पैदाकर देती है, मगर वास्तवमें Old is not gold glitters हरेक चमकदार पदार्थ सोना ही नहीं होता। बहुसंख्यक लोगोंकी तरफसे मखमली खूबसूरत पलङ्गोंसे ढके हुए खड्डे विचारपूर्वक वा अन्तःस्थित पीढ़ियोंके स्वभावज चक्रसे तैयार होते रहते हैं जिनके प्रलोभन और ललचाहटमें फँसकर अल्पसंख्यक लोग शत्रुको ही मित्र समझने लगते हैं, यही नहीं; किन्तु अपने सत्व-स्वत्वकी रक्षाका ख़याल तक छोड़ बैठते हैं। किमाधिकम् इस स्व-रक्षणकी भावना वासना भी उनको अहितकर जँचने लगती है। इसके अलावा भावी उदयावलीके बल अथवा यों कहूँ कि कालदोष से अभागे अल्पसंख्यकोंमेंसे कोई कंस जैसे भी पैदा होजाते हैं जो अपने घरके नाश करनेपर उतारू होजाते हैं, गैरोंके चिराग़ जलाते हैं और पूर्वजोंके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

वीर-जयन्ती

गत वर्षोंकी तरह इस वर्ष भी चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वीर-प्रभुकी जयन्ती समूचे भारतमें अत्यन्त उत्साह-पूर्वक मनाई गई। इस वीर-जयन्तीकी प्रणाली से जैनधर्मका काफी प्रसार हुआ है। पहले जैन-समाजके उत्सव आदि अत्यन्त संकुचित रूपमें होते थे। प्रायः जैनमन्दिर, जैनधर्मशाला और जैन उपाश्रय ही उत्सव और व्याख्यानादिके क्षेत्र नियत थे। सार्वजनिक सभाओंके करनेका न तो आमतौर-पर साहस होता था और न इस तरहके व्याख्यान-दाता ही प्राप्त थे।

वीर-जयन्तीकी यह परिपाटी पड़ जानेसे बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इस अवसरपर अब प्रायः सर्वत्र सार्वजनिक स्थानोंपर सभाएँकी जाती हैं, कवि सम्मेलनों–मुशायरोंका भी आकर्षक कार्यक्रम रखा जाता है; सर्वधर्म सम्मेलन किये जाते हैं; नगर-जुलूस निकाले जाते हैं और व्याख्यान देनेके लिये नेताओं—लोकसेवी विद्वानोंको भी बुलानेका प्रयत्न किया जाता है। कितने ही स्थानोंपर जैनधर्मके समीपके सम्प्रदायोंके अनुयायी भेदभाव भूलकर यह उत्सव मनाते हैं और अपने भिन्नधर्मी देशवासियोंको भी प्रेमपूर्वक उसमें सम्मिलित करते हैं।

इस प्रयत्नसे भ्रातृत्वकी भावना बढ़ती है, जैन-धर्मके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, फैली हुई अनेक भ्रामक धारणाएँ दूर होती हैं और जैनधर्मके मानवोचित सिद्धान्तोंका व्यापक प्रसार होता है।

वीर-जयन्तीके समान और भी सार्वजनिक तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले उत्सवोंकी परिपाटी डालनी चाहिये। वीरसेवामन्दिर-द्वारा वीर-शासन-जयन्तीका आयोजन भी इसी तरहका पुण्य प्रयास है। अब इसका व्यापक प्रचार होनेकी नितान्त आवश्यकता है। कलकत्ता, बम्बईमें पर्यूषणपर्वपर व्याख्यानमालाकी सूझ भी अभिनन्दनीय है। आशा है अब जैनसमाज के बहुजनता वाले शहरों—इन्दौर, अजमेर, व्यावर, जयपुर, सहारनपुर, देहली, जबलपुर, अहमदाबाद आदिके उत्साही कार्यकर्ता इस प्रथाका अनुसरण करेंगे। १५-२० शहरोंके कार्यकर्ताओंकी एक समिति बन जानी चाहिये, जो सार्वजनिक २०-२५ व्याख्यान-दाताओंका निर्वाचन करके इस तरहका कार्यक्रम निर्धारित करें जिससे ये विद्वान् १० शहरोंमें निरा-कुलता पूर्वक जाकर पर्यूषणपर्वमें व्याख्यान दे सकें। इस संगठित प्रणालीसे व्यय भी कम होगा और स्थानीय कार्यकर्ता विद्वानोंके बुलाने आदिकी झंझटसे भी बच सकेंगे। दस रोज़ एकसे एक नये विद्वान्का व्याख्यान सुननेके लिये जनता भी उत्साहित रहेगी और जैनधर्मको धीरे-धीरे सार्वजनिकरूप भी प्राप्त होगा।

भारतके लोकोपयोगी और सार्वजनिक कार्योंमें जैनोंका सदैव भरपूर सहयोग रहा है। हर उन्नत कार्योंमें सर्वत्र जैनोंने हाथ बटाया है, फिर भी वे सार्वजनिक दृष्टिकोणमें कितने उपेक्षित हैं, यह आभास पग-पगपर होता है।

इसका कारण यही है कि हमने इस विज्ञापनके युगमें जैनधर्मके सिद्धान्तोंको जनताके सामने लानेका

घरको अँधेरा नरक बना देते हैं।

............इस तरह जैनकुलोंमें, जैनपञ्चायतोंमें, जैनगृहोंमें चलती-चलाती ठण्डी पड़ी हुई अम्नाओंमें कलह, भीषण क्षोभ, और तत्कालस्वरूप तीव्र कषा-योदय और अशुभ बन्धके अनेक निमित्त कारणोंसे बचाकर जैनोंका रक्षण, संगठन और उत्थान होगा, तभी इस समयकी लपलपाती हुई अनेकान्त-नाशक जाज्वल्यमान दावाग्निसे जैनधर्म और जैनसंस्कृति स्थिर रहेगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ठीक-ठीक प्रयत्न नहीं किया। न हमने जैनधर्म सम्बन्धी कोई ऐसा ग्रन्थ निर्माण किया जिससे जनता जैनधर्मके व्यापकरूपको समझ सके; न हमने जैनधर्मानुयायी आचार्यों, कवियों, राजाओं, सेनानायकों, शूरवीरों और कर्मवीरोंका प्रामाणिक इतिहास ही प्रकाशित किया है; न हमने जैन-चित्रकलाका परिचय दिया है और न हमने अपने लोकसेवी कार्यकर्ताओंका ही उल्लेख किया है। फिर किस आधार पर और किस विशेषतापर लोग जैनधर्मकी ओर आकर्षित हों और क्योंकर सार्वजनिकरूपमें जनताके सामने उल्लेख हो।

इस विज्ञापनके युगमें विज्ञापनके बलपर जापानी इमीटेशन घर-घर पहुँच सकते हैं और विज्ञापनका साधन न मिलनेसे हीरे-मोती बक्सोंमें रखे धूल फाँकते रहते हैं।

अतः आवश्यकता इस बातकी है कि जैनसमाज अपने संकुचित सम्प्रदायके गड्ढेसे निकलकर जैनधर्मके सत्य-अहिंसा-अपरिग्रहवादका सार्वजनिकरूप से विश्लेषण करे। हमारे साधु, मुनिराजोंको अब उपाश्रय और मन्दिरकी संकुचित चारदीवारीसे निकलकर आम जनताके सामने अपने दिव्य उपदेश देने चाहिएँ। हमें अपने मन्दिरोंके पुराने ढङ्ग बदलने होंगे। उनके सोने-चाँदीके चँवर-छतर-उपकरण तथा वर्तमान पूजा-पद्धति ही जैनधर्मके व्यापक प्रचारको रोकती है। जैनधर्मके मन्दिर ऐसे होने चाहिएँ कि जहाँ न चौकीदारकी आवश्यकता रहे, न पुजारीकी और न ताले-कुञ्जीकी। एक ऐसी आमफ़हम (सबकी समझमें आने योग्य) दर्शन-पूजा-पद्धति हमें चालू करनी होगी जो मानवमात्रके लिये उपयोगी हो सके। हर मनुष्य भगवान्‌की शरणमें जा सके, हमें इस ओर अविलम्ब प्रयत्न करना होगा।

सदियों पूर्व श्रवणबेल्गोलमें भगवान् बाहुबलिकी मूर्तिका निर्माण करके हमारे पराक्रमी पूर्वजोंने हमारे सामने एक आदर्श रख दिया था और बता दिया था कि जिस वीतराग मूर्तिके ऊपर न चँवर है न छतर है, जो न तालेमें बन्द है न पुजारीके आश्रित है, उस मूर्तिके आगे वे भी नतमस्तक होंगे जो हीरे-जवाहरातकी मूर्तियोंसे भी प्रभावित नहीं होते हैं। हम इस व्यापक और महान् आदर्शको न समझ पाए और हमने वीतराग भगवान और जिनवाणी माताको तालोंमें बन्द करके रख दिया!

डालमियानगर (विहार)
२६ अप्रैल ४८

—गोयलीय

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ आदिपुराण [छन्दोबद्ध]

लेखक, कवि श्रीतुलसीरामजी देहली। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया, चन्दावाड़ी, सूरत। पृष्ठ संख्या ३८४ मूल्य ४) रुपया।

इस ग्रन्थका विषय इसके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें जैनियोंके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान आदिनाथका, जिन्हें भागवतके पञ्चम स्कन्धमें ऋषावतारके नामसे उल्लेखित किया गया है, जीवन-परिचय दिया हुआ है। साथ ही उनके पूर्वभवोंका चित्रण करते हुए प्रसङ्गवश अन्य कथाओंको भी दिया गया है। ग्रन्थ में २० सर्ग हैं जिनकी श्लोक संख्या चार हजार छहसौ अट्ठाईस बतलाई गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ विक्रम की १५वीं शताब्दीके विद्वान् भट्टारक सकलकीर्तिके संस्कृत आदिपुराणका हिन्दी पद्यानुवाद है। ग्रन्थमें चौपई, पद्धड़ी, घत्ता, दोहा, भुजङ्गप्रयात, मन्दाक्रान्ता, अडिल्ल, मोतियादाम आदि विविध छन्दोंका उपयोग किया गया है। कविता साधारण होते हुए भी वह भावपूर्ण है। इस पद्यानुवादके कर्ता पं० तुलसीरामजी हैं जो दिल्लीके निवासी थे, जो धर्मात्मा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सज्जन तथा उदार प्रकृतिके थे, और समाजके कार्योंमें सदा भाग लिया करते थे। इनका ४० वर्षकी अल्प वयमें ही संवत् १९५६में स्वर्गवास हुआ है इस ग्रन्थकी प्रस्तावनाके लेखक पं० सुमेरचन्दजी न्याय-तीर्थ उन्ननीषु हैं। प्रस्तावनामें ऐतिहासिक दृष्टिसे भगवान ऋषभदेवके जीवनपर विचार किया होता तथा ग्रन्थकी कविता और भाषा आदिके सम्बन्धमें आलोचनात्मक दृष्टिसे विचार किया जाता तो ग्रन्थकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जाती। अस्तु

इस ग्रन्थके प्रकाशक मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया हैं जिन्होंने ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके स्मारक फण्डसे प्रकाशित किया है। और इस तरह ब्रह्मचारीजीकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनानेका प्रयत्न किया है, परन्तु इस ग्रन्थके प्रकाशमें लानेका सबसे प्रथम श्रेय बाबू पन्नालालजी अग्रवाल देहलीको है जिन्होंने इसकी प्रेस कापी स्वयं करके भेजी है। आप बहुत ही प्रेमी सज्जन हैं, आपको अप्रकाशित साहित्यके प्रकाशमें लानेका बड़ा उत्साह है। अतएव दोनों ही महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तकमें प्रेस सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं फिर भी ग्रन्थ पठनीय है।

२ महाजन [ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक, कृष्णलाल वर्मा। प्रकाशक, बलवन्तसिंह महता, साहित्य कुटीर सोनाशेरी, उदयपुर। पृष्ठ संख्या १४८। मूल्य सजिल्द प्रति २॥) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें गुजरातके बादशाह मुहम्मद बेगड़ाके समय वि० सं० १५०२से १५६८के मध्य घटने वाली घटना-का चित्रण है, जो गुजरातके समय खेमा सेठ द्वारा एक वर्ष तक दिये हुए अन्नदान और उसके उपलक्षमें मुहम्मद बेगड़ाद्वारा प्रदान की हुई 'शाह' पदवी आदिको उपन्यासका रूप दिया गया है। पुस्तक अकालकी समस्याको सुलझानेका मार्ग प्रदर्शन करती हुई महाजनोंकी गृहीजीवनकी त्याग और समुदार भावनाको प्रकट करती है। लेखकने इसमें पर्याप्त परिश्रम किया है और वह अपने कार्यमें सफल भी हुआ है। इस पुस्तककी प्रस्तावनाके लेखक भार्गव विट्ठल वरेरकर हैं, जो मामा वरेरकरके नामसे प्रसिद्ध हैं और मराठी वाङ्मयके सफल लेखक हैं। छपाई सफाई अच्छी है, परन्तु मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

३ टोडरमलाङ्क [विशेषाङ्क]

सम्पादक, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ और पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ, मनिहारोंका रास्ता, जयपुर। वार्षिक मूल्य ३) रु०। इस अङ्कका मूल्य १) रुपया।

प्रस्तुत अङ्क वीरवाणीका विशेषाङ्क है जो आचार्य-कल्प पं० टोडरमलजीकी स्मृतिमें निकाला गया है। इसमें पं० जीके जीवन-परिचयके साथ उनके कार्योंका संक्षिप्त परिचय भी कराया गया है। यद्यपि पण्डित जीके व्यक्तित्व एवं पाण्डित्यके सम्बन्धमें खासा मोटा ग्रन्थ लिखा जा सकता है, इससे पाठक सहज ही में जान सकते हैं कि वे कितने महान् थे! समाज-में उनके ग्रन्थोंके पठन-पाठनका अच्छा प्रचार है। अतएव उनके नामसे जनता परिचित तो थी; किन्तु उनके जीवन-चरितसे प्रायः अपरिचित थी। अतएव इस दिशामें पं० चैनसुखदासजीके प्रयत्नस्वरूप वीर-वाणीका यह विशेषाङ्क अपना खासा महत्व रखता है। परन्तु अङ्ककी साधारण छपाई-सफाई तथा प्रूफ सम्बन्धी कुछ अशुद्धियोंको देखकर दुःख भी होता है, कि क्या जैनसमाज अपने पूर्वजोंके उपकारको भूल गई है? जो सुवर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने योग्य है। सचमुच वीरवाणीने अपने थोड़े ही समयमें अच्छी प्रगति की है। आशा है भविष्यमें अपनेको वह और भी समुन्नत बनानेका प्रयत्न करेगी।

परमानन्द जैन सोंधेलीय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके प्रकाशन

१. **महाबन्ध**—(महधवल सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग । हिन्दी टीका सहित मूल्य १२) ।

२. **करलक्खण**—(सामुद्रिक-शास्त्र) हिन्दी अनुवाद सहित । हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ । सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लचन्द्र मोदी एम० ए०, अमरावती । मूल्य १) ।

३. **मदनपराजय**— कवि नागदेव विरचित (मूल संस्कृत) भाषानुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित । जिनदेवके कामके पराजयका सरस रूपक । सम्पादक और अनुवादक-पं० राजकुमारजी सा० । मू० ८)

४. **जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करने वाली सुन्दर रचना । हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन रिलीजनके एफ० ए० के पाठ्यक्रममें निर्धारित । मुखपृष्ठपर महावीरस्वामीका तिरङ्गा चित्र । मूल्य ४।-)

५. **हिन्दी जैन-साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**—हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास तथा परिचय । मूल्य २।।।) ।

६. **आधुनिक जैन-कवि**—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय और सुन्दर रचनाएँ । मूल्य ३।।।) ।

७. **मुक्ति-दूत**—अञ्जना-पवनञ्जय-का पुण्यचरित्र (पौराणिक रोमाँस) मू० ४।।।)

८. **दो हजार वर्षकी पुरानी कहानियां**—(६४ जैन कहानियाँ) व्याख्यान तथा प्रवचनोंमें उदाहरण योग्य । मूल्य ३) ।

९. **पथचिह्न**—(हिन्दी-साहित्य-की अनुपम पुस्तक) स्मृति रेखाएँ और निबन्ध । मूल्य २) ।

१०. **पाश्चात्यतर्क शास्त्र**—(पहला भाग) एफ० ए० के लॉजिकके पाठ्यक्रमकी पुस्तक । लेखक—भिक्षु जगदीशजी काश्यप, एफ० ए०, पालि—अध्यापक, हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी । पृष्ठ ३८४ । मूल्य ४।।) ।

११. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न**—मूल्य २) ।

१२. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थ-सूची**—(हिन्दी) मूडबिद्रीके जैनमठ, जैन-भवन, सिद्धान्तवसदि तथा अन्य ग्रन्थ भण्डार कारकल और अलिपूरके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंके सविवरण परिचय । प्रत्येक मन्दिरमें तथा शास्त्र-भण्डारमें विराजमान करने योग्य । मूल्य १०) ।

वीरसेवामन्दिरके सब प्रकाशन भी यहाँपर मिलते हैं

प्रचारार्थ पुस्तक मँगाने वालोंको विशेष सुविधाएँ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ।

Regd. No. A-731

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ **अनित्यभावना**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मूल्य ।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य ।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल-कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना ३ साधुवेषनिदर्शन-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड**—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटी संहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल-की अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुये १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)** न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंको खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं और थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है। अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रम-से उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम होसकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। बढ़िया आर्ट पेपरपर छपी है। विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य है। मू० ॥)

प्रकाशन विभाग—

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org